हस्ति तुण्डी तीर्थस्य भगवन्मूर्ति ।

॥ श्री ॥

महावीरदेव

मेरे ख्यालसे श्रीप्रभु के चरित के कहने के पूर्व इस बात का परामर्श करना ठीक होगा कि महावीर देव के पूर्व भारतवर्ष की दशा कैसी थी। आजसे असंख्य वर्ष पहले नवम और दशम तीर्थंकर देव का मध्यसमय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहासमें कलङ्करूप था।

उस समय श्रीआदिदेव ऋषभनाथ स्वामी की स्थापन की हुई और तत्पश्चात् हुए हुए अजितनाथादि तीर्थंकरो की परिपुष्ट की हुई—धार्मिक-मर्यादा लुप्त होगई थी। भरतचक्री द्वारा निर्मित आर्यवेदों की शिक्षा का ह्रास ही नहीं बल्कि अभाव ही होगया था।

जिस भारतभूमिमें करुणारूप निम्नगा का विमल प्रवाह असंख्य वर्षोंसे चला आ रहा था, वहां उस समय दुर्वासनाओं की धूली उड रही थी।

जिस पवित्र निर्वाणजननी क्रिया को अनन्तज्ञानियों ने स्थापन किया था, उस का स्थान आडम्बरों से भरी हुई पुरोहितों (याज्ञिकों) की शिक्षाओं ने ले लिया था, अतः वह उत्तम क्रिया पैशाचिकरूपको धारण किये चली जाती थी। वेदवेत्ता पण्डितगन भी वेदऋचाओंका अर्थ भूल ते जा रहे थे।

सर्व साधारण और श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण—पण्डित—वेदशास्त्राभ्यासी बाह्याडम्बरों में और स्वर्गसुखों के प्राप्त करने की लालसाओं में मुग्ध हुए पडे थे।

उस वक्त भारतवर्ष का जीवनप्रवाह कर्मकाण्ड—नास्तिकता—अथवा

अज्ञान की तर्फ झुक रहा था, ब्राह्मणलोग प्राचीन काल के सुखों का स्वप्न देखते हुए और समय को न विचारते हुए दूसरी जातियों के स्वत्वों को छीन कर अपने अधिकार को बढ़ाने का यत्न कर रहे थे।

परमार्थमार्ग और अध्यात्मविद्या को थोड़े से इने गिने मनुष्य भी जानते हों इसमें भी पूर्ण शंका थी।

॥ प्रवाहमार्ग ॥

आत्मनिरीक्षण—निरीहक्रिया—अन्तरदृष्टि—ज्ञानयोग—अपवर्ग कामनादि विशुद्ध मानव कर्त्तव्यों को छोड़कर यज्ञपूजा—संसार वृद्धिनिबन्धन पशुवध आहुति प्रदानादि क्रियाएँ सुखकर, सुगम और शास्त्रविहित मानी जाती थीं। ज्ञानप्राप्ति में उदासीनता होतीजाती थी, ज्ञानयोग के विपरीत कर्मकाण्ड का यथोचित पालन उनको स्वर्ग का देनेवाला प्रतीत होता था. परन्तु—वह यह नहीं समझते थे कि.

> दयाधर्मनदीतीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः
> तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्तिष्ठन्ति ते चिरम् ? ॥ १ ॥

साराश यह कि स्वार्थरत और अज्ञान ग्रसित हिन्दुओं की दशा उस समय अत्यन्त शोचनीय थी।

जब जनता का हृदय इतना संकुचित हो तब वह कदापि श्रेष्ठतत्त्वों का अनुसरण नहीं कर सकती। ब्राह्मण—क्षत्रिय और वैश्य कर्मकाण्ड के यज्ञमें झूठे मोहसे स्वर्गकामना के लालची हुए हुए अपने आत्मिक सुखों के पराङ्मुख होकर आत्मा की ही आहुति दे रहे थे। आत्मोन्नति का रास्ता वह भुला बैठे थे। जड़वाद की महत्ता और असयतियों की पूजा चारों तर्फ अपना महत्त्व जमा रही थी। अखिल जनसमाज को अपनी दृष्टि—अपना हृदय—अपना मन—और अपनी आत्मशक्ति—ब्राह्मणों की सेवा में ही लगा रखने की जबरदस्ती फर्ज समझी जाती थी। यहां लोगों-

का परमधम समझा जाता था। " वर्णाना ब्राह्मणो गुरु " इस वाक्य को ईश्वर वाक्यसमान अटल अबाध्य माना जाता था।

॥ अवतारी का आगमन ॥

उस समय जब कि भारतवर्ष की धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था बडी ही बुरी थी। सुधारे का बालसूर्य दुर्दशारूपी रात्रीका नाश करने के, लिये उदय हुआ ! ! !।

क्षत्रियकुण्ड नगर जो कि इक्ष्वाकु राजाओं की राजधानी थी, वहां विक्रम सवत् स ५४२ वर्ष पूर्व सिद्धार्थ राजा की स्त्री त्रिशला की कुक्षि से एक प्रतापी बालक का जन्म हुआ, जिसको भारतवर्षमें ही नहीं बल्कि त्रिलोकी भरमें धर्म की—शुभकर्म की—नीति की—आर्य रीति की—पारमार्थिक सुखों की एव शुभवासनाओं की वृद्धि करनी थी। उस बालक का नाम " वर्धमानकुमार रक्खा गया, परन्तु वह बाल्यावस्था में प्रसन्नतासे परीक्षापूर्वक इन्द्रादि देवताओं के दिये हुए वीर अथवा महावीर नाम से ही अपने जीवन के अन्त तक प्रसिद्ध रहा। महात्मा महावीर जन्मसे ही सूर—वीर—गंभीर—मातापिता के परम भक्त—प्रजावत्सल—दानशौण्ड और वदान्य थे।

आप तीन ज्ञानसयुक्त थे, सर्व विद्यापारगत थे, तथापि मोहवशीभूत होकर आपके मातापिता आपको शास्त्राध्ययन कराने के लिये किसी पण्डित के पास ले गये, आप मनमें अहंकृति न कर सब कुछ देख रहे थे जब यह घटना इन्द्रमहाराजने देखी तो वह मनही मन हसते हुए वहा आये जहां कि वीरकुमार पण्डित के मकान पर बैठ रहे थे, इन्द्र ने अपने ज्ञान से देखा कि इन इन बातोंका पण्डित को जन्म से संशय है तो, उन्हीं बातों की बार परमात्मा से पृच्छा की, परमात्मा तो अभी छद्मस्थज्ञानी थे अर्थात् सामान्य मनुष्यों से असंख्य गुणाधिक ज्ञानशक्ति के धारक थ, इन्द्र के पूछने पर बडी गंभीरता से उन प्रश्नों का आपने

समाधान किया । पण्डित प्रभृति सर्वजनों के आश्चर्य का पार नहीं रहा ! ! ! उस वक्त इन्द्र महाराज ने वीर कुमार की आत्मशक्ति का परिचय दिलाते हुए कहा—

मनुष्यमात्रं शिशुरेष विप्र ! । नाशंकनीयो भवता स्वचित्ते ।
विश्वत्रयीनायक एष वीरजिनेश्वरो बाल्सपारदृश्वा ॥ १ ॥

इनका विचारशील मन बालकपनसे ही पृथ्वी के वास्तविक लाभों के प्राप्त करनेमें था । दीनात्माओं की दुर्दशा को देख आपके उदारमन पर बडा आघात होता था ।

उस वक्त के आडम्बरों को देख आप समझते थे कि यह धर्म नहीं किन्तु धर्म के नाम से अज्ञता है, परन्तु सब कार्य देशकाल की अनुकूलता को पाकर ही सुधरते हैं ।

आपको संसार का उद्धार करना सदा से प्रिय था, अतः आपने सुख को तिलाञ्जलि देकर जगत को सुधारना तथा शान्ति देनी ठान ली, इस विचार को दृढ करके आपने राज्य—स्त्री—परिवार—मालमिल्कत—स्वजनबन्धुओं—का परित्याग कर के—तीन अबज—अठासी क्रोड—अस्सी लाख—सोनहियों का दान देकर ससार को छोड दिया ।

॥ आत्मभोगपर सत्यसन्धा ॥

आपका सिद्धांत था कि—"यदाराध्य यत्साध्य, यद्ध्याय यच्च दुर्लभम् । तत्सर्व तपसा साध्य, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ १ ॥" जो चीज आराधना करने योग्य है, जिसकी साधना मे तन मन धन की आहुति दी जाती है, जो योगियों के भी ध्यान करने योग्य है, जो चीज ससारमें अति दुर्लभ है. वह सब तपोबल से साध्य है, तप निकाचित कर्मकी गति को भी रोक सकता है, परंतु तपकी शक्तिको कोई नहीं रोक सकता, तपसे आत्मा की अनन्त शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् तपस्या के करने से मनुष्यको केवल ज्ञान केवल दर्शनकी प्राप्ति भी हो सकती है ।

इस वास्ते आपने साढे बारा वर्ष १५ दिन वो घोर तप किया कि जिसको सामान्य आदमी एक दिन तो क्या ? बल्कि एक घडीभर भी न कर सके। तप करते हुए आपने ६=९ महिने तक अन्न और पानी नहीं लिया। साढे बारों तक क्या रात और क्या दिन, प्राय खडेही खडे निकाले। लोगोंने आपके पाओंका चुल्हा बनाकर रसोई बनाई आपके कानोंके साथ ... मांसाहारी क्रूरपक्षियों के पिंजर ... में कीले गाडे, आंख नाक कान वगरह कोमल ममस्थानामें धूल भरदी इत्यादि मानुषिक-सपादिकृत जिन उपद्रवों का आपने सहन किया है उनके सहन का बल आत्मीय सहिष्णुमात्र आपके सिवाय अन्य प्राकृतिक मनुष्य का न हुआ है और न होगा, इतना करते हुए भी निराशारूपी अन्धकार उन्हें अशक्त मात्र घेर नहीं सका। सत्यरूपी प्रकाश का उदय हुआ नि-कवल ज्ञान कहीं दूर नहीं था। आप वीतराग हुए, सर्वविद् हुए, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए, और संसारको अपनी शिक्षा देने का उद्यम करने लगे।

[सार और साफल्य]

आपकी शिक्षा थी कि प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह उच्चजाति का हो चाहे नीच जातिका हो मोक्षका अधिकारी है, जो मनुष्य पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है और अनाथों अनाश्रितोंपर दया करता है उसको यज्ञोंद्वारा देवताओंको प्रसन्नता करने की अपेक्षा इस क्रियासे अधिक लाभ है, और अधिक लाभ भी धिक अयाचित दानकी वृत्तिका ऐसर है यही पनुष्य ता धार दुःख का हद है।

फिर आपका फरमान था कि मनुष्य को वर्तमानदशा उसीके कर्मोंका फल है, वह कर्म चाहे इस जन्म के किये हो चाहे पूर्वजन्म के। अन्तिम दशाके विचारसे आपका फरमान था कि जीवनका अधिकांश दुःखरूप है चाहे वह अपने को कितना भी सुखी क्यों न मानता हो। इसे

लिये मनुष्य को वह कार्य करना चाहिये कि जिससे वह पुनरागमनसे सदाके लिये मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त हो जाय, अर्थात् सांसारिक कदर्थनाओं से सदा के लिये छूट जाय। यह फल यज्ञों की सबल क्रियाओं द्वारा अथवा अनाथ पशुओं को निर्दय होकर अग्निमें झोक देने से कभी नहीं मिल सकता।

हाँ पवित्रतापूर्वक जीवन गुजारने से और वासनाओं के दमानेसे हो सकता है।

राजा और किसान, ब्राम्हण और शूद्र, आर्य और अनार्य, अमीर और गरीब, सबही वीर परमात्मा की शिक्षाओं को प्रेम से सुनते थे, आपके ज्ञानकी प्रभा विजली की तरह मनुष्यों के हृदयपर तत्काल असर कर जाती थी।

जो लोग सिर्फ तमाशा ही देखनेको आते थे, आपके अपूर्वज्ञानके चमत्कार से चाकित हो जाते थे। श्रद्धालुओं की तरह उन मनुष्योंपर भी आपका प्रभाव पडता था।

[॥ परिवार परिचय ॥]

परमात्मा महावीर देवने पहले पहल अपापा नगरी में उपदेश किया था, वहाँ इन्द्रभूति १ अग्निभूति २ वायुभुति ३ वगैरह ११ विद्वान् ब्राह्मण यज्ञक्रिया के करने के लिये एकत्र हुए हुए थे, उनको प्रभुने सत्यमार्ग समझाकर अपने आद्य शिष्य बनाये। ये सर्व पण्डित४४००——शिष्यों सहित प्रभुके चरणारविन्दोंमें आकर दीक्षित हुए थे।

प्रभु खुद राज्य त्याग कर मुनि हुए थे इसलिये जिन का नाम आगे लिखा जायगा वह चेडा, श्रेणिक, उदायन, वगैरह राजा प्रभुके भक्त बने थे।

परमात्मा के संसारासारतादर्शक उपदेशको सुनकर ९९ क्रोड सोना

मोहरें ३२ स्त्रिया का त्याग कर शालिभद्र उनके शिष्य हुए थे। शालिभद्र के अलावा और भी अनेक राजपुत्र जैसे कि मेघकुमार अभय कुमार आदि, अनेक श्रेष्ठिपुत्र जैसे कि धन्नाकुमार और धन्नाकाकन्दी, प्रभुचरणोंमें दीक्षित हुए थे।

आपके पांचकल्याणक जिन का वर्णन आगे लिखा जायगा उनमें ६४ इन्द्र सहपरिवार हाजिर हुआ करते थे, परन्तु उनपरभी आपको आसक्ति नहीं थी।

आपका मुख्य सिद्धांत था कि संसारक्षेत्रमें सत्यमार्ग खोजनेवालेको अपना जीवन उच्च बनाना चाहिये। उन्होंने अपने शिष्योंको इस कदर उपदेशद्वारा स्थिर किया कि मरणान्तकष्टक आनेपर भी वह धर्मसे विचलित नहीं होते थे।

आपके सम्प्रदायमें अनादि स्वभावके अनुसार स्त्री और पुरुष सभी कल्याणमार्गका अख्त्यार कर सकते थे। दीक्षित पुरुष—आर्य, मुनि, साधु, तपस्वी, ऋषि, भिक्षुक, निर्ग्रन्थ, अनगार और यति आदिके नामों से पहचाने जाते थे, और दीक्षित स्त्रिया—आर्या, भिक्षुणी, साध्वी, तपस्विनी निग्रन्थी आदि नामों से पहचानी जाती थी। आपके निर्वाण के बाद भी गौतमादि आपके शिष्योंने उसमें भी खास करके सौधर्म स्वामीने आपकी शिक्षाओं का याथातथ्यरूपसे प्रवाह प्रचलित रक्खा था।

परमात्मा के आगम अर्धमागधी भाषामें थे, और १४ पूर्वो की विद्या संस्कृतभाषा में थी।

आपके निर्वाण के बाद कितना ही अरसा बीतजानेपर आपके वाक्यों की होती हुई छिन्नभिन्न दशाको अच्छे रूपमें स्थापन करनेके लिये मथुरा नगरीमें और वल्लभीमें सभाएँ हुई थीं, मथुरा की सभामें मुख्य नियामक स्कन्दिलाचार्य थे और वल्लभीपुरकी सभामें मुख्य नियन्ता देवार्द्धि गणि क्षमाश्रमण थे।

आपके शासन की ध्वजा संप्रति नरेशने और कुमारपाल सरीखे ने बहुत दूरतक फरकाई थी।

[प्रासंगिक]

रथ चक्रके समान गतिवाले इस संसारमे जिस जिस समय धर्म क्रियाओंका ह्रास होता है उस उस समय भव्यात्माओं के पुण्य प्रकर्षसे ससार में उत्तम पुरुषोंका जन्म होता है। वह उत्तम जीवात्मा तीर्थंकर तीर्थनाथ विश्वनायक कहे जाते हैं। जिन विशुद्धात्माओं ने इस पदवी पाने के तीन भव पाहिले प्रकृष्ट तप आदि बीस अथवा उनमें से कतिपय सत्कृत्यों का सतत सेवन करके तीर्थंकर नामकर्म दृढ बांधा हुआ होता है वही महापुरुष इस पदवी को हासिल कर सकते हैं।

ये अवतारी पुरुष जिस जन्मदात्री माता की कुक्षि में गर्भरूपसे स्थित होते है, वह माता इन भावी भाग्यशालियों की सूचनारूप चतुर्दश स्वप्नों-को देखती है।

तीर्थंकर देवों की पाच अवस्थाओं का नाम कल्याणक है, जिन के नाम यह है—

(१) च्यवनकल्याणक, २—जन्मकल्याणक. ३—दीक्षाकल्याणक, ४—केवलज्ञानकल्याणक, ५—निर्वाणकल्याणक।

इन पाचही कल्याणकों में देवेन्द्रादि असख्य देव देवी आकर देवाधिदेव परमात्मा के गुणग्राम भक्ति शुश्रूषा करते हैं।

जन्मकल्याणक के समय सर्व इन्द्र परमेश्वर को सुमेरु पर्वत पर ले जा कर उन का स्नात्र महोत्सव करते है और बडी भक्ति से पूजा रचाते है। तदनन्तर बडी हिफाजत से उन्हें माता के पास रखकर अपने उपकारी के जन्म की खुशियें मनाते अपने २ स्थानों में चले जाते हैं। अन्य भी अनेक प्रसगों पर देवेन्द्र, महर्द्धिक देव, और देवियें प्रभु के दर्शन और सदुपदेश का लाभ लेने को आया करते हैं।

केवल ज्ञान ा बाद जब समवसरण की रचना होती है तब देवेन्द्र चक्रवर्ती सपरिवार उपासना भक्ति में हाजिर होते हैं।

एसे धर्म साम्राज्यशाली देवाधिदेव एक एक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालमें चौबीस चौबीस होते हैं। वर्तमान चौबीसीमें—१—श्रीऋषभदेवजी, २—श्रीअजितनाथजी, ३—श्रीसंभवनाथजी, ४—श्रीअभिनन्दनजी, ५—श्रीसुमतिनाथजी, ६—श्रीपद्मप्रभुजी, ७—श्रीसुपार्श्वनाथजी, ८—श्रीचन्द्रप्रभुजी, ९—श्रीसुविधिनाथजी, १०—श्रीशीतलनाथजी, ११—श्रीश्रेयांसनाथजी, १२—श्रीवासुपूज्यजी, १३—श्रीविमलनाथजी, १४—श्रीअनंतनाथजी १५—श्रीधर्मनाथजी, १६—श्रीशान्तिनाथजी, १७—श्रीकुंथुनाथजी, १८—श्रीअरनाथजी, १९ श्रीमल्लिनाथजी, २०—श्रीमुनिसुव्रतस्वामीजी, २१—श्रीनमिनाथजी, २२—श्रीनेमिनाथजी, २३—श्रीपार्श्वनाथजी, २४—श्रीवर्द्धमानस्वामी।

इनमें से जो अंतिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामीजी है, उनका प्रसिद्ध नाम है महावीरदेव, वर्तमान कालमें जो शासन चलता है, इस के संचालक यही प्रभु हैं। इस महावीरदेव के ग्यारह गणधर थे, जिनके नाम—

१—इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) २—अग्निभूति, ३—वायुभूति, ४—व्यक्त, ५—सुधर्म, ६—मण्डित, ७—मौर्यपुत्र, ८—अकंपित, ९—अचलभ्राता, १०—मेतार्य, ११—प्रभास, यह ११ ही मुनि श्रीमहावीर के मुख्य शिष्य थे। महावीर परमात्मा के निर्वाण के दूसरे ही दिन गौतमस्वामीको केवल ज्ञान पैदा हुआ था। कुछ वर्षों के बाद सुधर्मा स्वामी को केवल ज्ञान पैदा हुआ था।

इन्द्रभूति (गौतम) और सुधर्मास्वामी के अलावा नव ही गणधर महावीर प्रभु की हयाती में ही मोक्ष चले गये थे। गौतमस्वामी की अपेक्षा भी श्रीसुधर्मस्वामी दीर्घायु थे इस लिये प्रभुने उन

श्रीसुधर्मस्वामीजी के ही सुपुर्द किया था। गौतमस्वामी और शेष सभी गणधर राजगृही नगरी के रहनवाले चौदह विद्याविशारद ब्राह्मण थे।

[।। तत्त्वज्ञानियोंकी आत्मकथा ।।]

जब श्रीमहावीर परमात्मा को केवल ज्ञान पैदा हुआ उसवक्त ये सब मिलकर नगर के बाहिर यज्ञ कर रहे थे। इसी अवसरमें महावीरको केवल ज्ञान पैदा हुआ था अत एव महा वीर प्रभुका ज्ञानोत्सव करने के लिये आकाश मार्गसे उतरते हुये देवता ओं को देखकर गौतमादि ब्राह्मण और इनके शिष्य पंक्ति के ४४०० ब्राह्मण इस बात की निहायत खुशी मनाने लगे कि हमारे किये इस यज्ञ के प्रभाव से ये सब देवता आ रहे हैं। परन्तु वे जब सर्व यज्ञ पाटक को छोडकर आगे बढे तो सबको संशय हुआ कि ये देवता कहाँ जाते है? लोगोंसे पूछा तो मालूम हुआ कि ये सब सर्वज्ञ को वन्दना करने जारहे हैं। यह सुनकर इन्द्रभूति को बडा आमर्ष हुआ। वह सोचने लगा—संसार में आज मेरे सर्वज्ञ होने पर भी दूसरा सर्वज्ञ है कि जिसके पास ये सब दौडे जारहे हैं? बडे आश्चर्य की घटना तो यह है कि इस वक्त परमपवित्र यज्ञमण्डप भी इन्हे नजर नहीं आता! 'क्या जाने क्या कारण है कि यज्ञपर इनको अन्तर प्रेम ही नही जागता?। अस्तु जैसा वह सर्वज्ञ होगा वैसेही ये देवता भी होंगे। भ्रमर को सुगन्धित फूलोपर और कौओंको निम्बकी निबोलियों पर ही प्रेम हुआ करता है।

परमात्माके दर्शन कर वापिस लौटते हुए लोगों को इन्द्रभूति ने कुछ हसकर पूछा क्यों भाई! सर्वज्ञ देखा? कैसा है? जवाबमें उन्हों ने सिर हिलाकर कहा—क्या पूछते हो? तीन लोक के सर्व जीवात्मा गिनती करने लगें, आयुकी समाप्ति न हो! गणित को परार्धसे भी आगे बढाया जाये तो भी उस ज्ञानसागर के गुणों की गणना करना असंभव और अशक्य है। अरे आश्चर्य! महदाश्चर्य!! वाहरे धूर्त!' किसीने

मूल मनुष्यों को ठगा, किसीने स्त्रियों को, किसीने बाल और गोपालों को परन्तु तूने तो चतुर मनुष्यों को, और विबुध कहलाते हुये देवताओं को भी जालमें फसाया ! अच्छा खद्योत और चन्द्र का प्रकाश सूर्यके आगे कितनी देर ठहरेगा ? ! अभी आता हूं, तेरे साथ विवाद करके तुझे परास्त करता हूं।

एक म्यान में दो तलवारें, एक ही गुफामें दो सिंह, या एक गगन में दो सूर्य, कभी किसीने देखे या सुने हैं ? !

इस प्रकार विविध आडम्बरों को दिखाता हुआ इन्द्रभूति अपने पांचसो ५०० शिष्यों को साथ लेकर प्रभुके पास आया। प्रभु अपने ज्ञानसे उसका नाम गोत्र और गुप्तरहा हुआ उसके मनका संशय जो कि उसने सर्वज्ञत्व की क्षति के भयसे किसी के पास आज तक जा हिर नहीं किया था उसे भी जानते हैं।

गौतम आकर जब सन्मुख खडा रहा तब " हे गौतम ! इन्द्रभूते त्व सुखेन समागतासि ? " इस तरह प्रभु उसको बुलाते हैं। महावीर के मुखसे अपने नाम और गोत्र को सुनकर गौतम ने विचार किया, अरे ! यह तो मेरे नाम गोत्र को भी जानता है। अथवा जगद्विख्यात मेरे नाम को कौन नहीं जानता ? अगर यह मेरे मनोगत सन्देह को कहे तो जानूं कि यह सच्चा सर्वज्ञ है।

गौतम के मनोगत भाव को जानकर त्रिकालवित् महावीर देव कहते हैं हे विप्र ! तेरे मनमें " जीव है या नहीं ? " इस बात का संशय है और उसका कारण वेदमें रही हुई —

" विज्ञान घन एव एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति "

और—" स वै अयं आत्मा ज्ञानमय " इत्यादि। तथा—" द द द " अर्थात्—दम। दान दया इतिदकारत्रयं यो जानाति स जीव ॥

ये दो ऋचाएं हैं। पहिली ऋचासे जीव का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है, और दूसरीसे जीव की सिद्धि भी हो सकती है। साधक और बाधक प्रमाणों के मिलनेसे तुम्हारा मन संशयान्दोलित होरहा है. परन्तु इन ऋचाओं का यथार्थ अर्थ तुम्हारे ख्यालमें नहीं आया, सुनो हम तुमको इनका परमार्थ समझाते हैं।

" विज्ञानघन " यह आत्मा का नाम है। जब आत्मा घटपटादि किसी भी चीज को देखती है तब वह उपयोग रूप आत्मा इन्द्रियगोचर पदार्थों को देखती सुनती है या किसी भी तरहसे अनुभव गोचर करती है, उसवक्त उन अनुभवगोचर पदार्थोंसे ही उस उस उपयोगरूप से पैदा होती है और उन पदार्थों के नष्ट होजानेपर या दूर होजानेपर वह उसरूप अर्थात् घटपटादि पदार्थ परिणत आत्मा उस उस उपयोग से हट जाती है, उस हालत को लेकर कह सकते हैं कि उन उन घट-पटादि भूतों से अर्थात भूतविकारों से उपयोगरूप वह आत्मा उत्पन्न होती है, उनके विखर जाने पर उनमेंही लय होजाती है।

" न प्रेत्य सज्ञाऽस्ति " पहिले जो घटपटादि उपयोगात्मक संज्ञा थी, फिर वह कायम नही रहती, उन पदार्थों से हटकर आत्मा अन्यान्य जिन२ पदार्थों में उपयोगरूप से परिणत होती है उस उस पदार्थ के रूपसे नई सज्ञा कायम होती है, इस समाधान से और प्रभुके जगदद्वैत साम्राज्य के देखनेसे इन्द्रभूति (गौतम) ने दीक्षा स्वीकार करली। इन्द्रभूति वीर परमात्माके प्रथम शिष्य हुए। इस बात को सुनकर अग्निभूति, वायु-भूति आदि सर्व पण्डित अपने अपने परिवार को लेकर आये। मनोगत सशयों को निवृत्त करके उन सबने जगद्गुरु महावीरदेव के पास संयम अखत्यार किया। प्रभुने इन एकादश मुख्य पडितों को अपने गणधर कायम किये। और गच्छ का मालिक सुधर्मा स्वामीको ही बनाया।

गौतमस्वामी प्रभुके निर्वाण के दूसरे ही दिन केवली होकर१२वर्षतक

ससारमें अनेक उपकारों का करते हुए भूमडलपर विचरते रहे और प्रभुके निर्वाण के २० वर्ष पीछे सिद्धि गति को प्राप्त हुए। सुधर्म स्वामी के पाटपर श्रीजम्बूस्वामी बैठे। बस जम्बूस्वामी महाराज ही अन्तिम केवली कहे गये हैं।

जम्बूस्वामी का इतिहास परिशिष्ट पर्व भाग पहिले से और साहित्य सशोधक भाग तीसरे से जान सकते हैं।

पहले इस बात का सामान्यतया उल्लेख हो चुका है कि जैनधर्म के प्रवर्तक हरएक तीर्थंकर की पांच अवस्था विशेष को जैन पारिभाषिक शब्दोंमें कल्याणक कहते हैं। वीर परमात्मा का जीवात्मा नयसार के भवमें सम्यक्त्व से वासित होकर २६ भव अन्यान्य गतियोंमें भोगकर सत्ताइसवें भवमें त्रिशला राणी की कुक्षिमें आकर पैदा हुए, इतने वृत्तान्त–का नाम च्यवनकल्याणक है। अनादि काल के अवासित प्राणीन पहिले पहिल मुनि को दर्शन करके किस उच्च आशय से उनका सत्कार किया है किस धर्मप्रीति से यह उनसे बर्ताव करता है, उसका अनुभव करने वालों के लिये हमारे परमोपकारी गुरुमहाराज की बनाई "महावीर पंचकल्याणक" पूजा की पहिली ढाल यहां लिखी जाती है—

(दोहा)

जब से समकित पाइये, तब से गणना थाय।
वीरजीव नयसार के, भव में समकित पाय ॥ १ ॥

(सारंग महेरवा हम हम द के चाल)

समकित आतम गुण प्रगटाना, । टेक ।
समकित मूल धरम नहि दीपे ।
बिन समकित न धरम नहि पाना ॥ स० १ ॥
अपर विदेह भूप आदि ।
ग्राम धरे नयसार का नाम ॥ स० २ ॥

भोजन समय में निरखत अतिथि
पुण्ययोग युग मुनि हुओ आना ॥ स० ३ ॥
धन्य भाग्य मुझ मन में चिंती ।
निरवद्य आहार पानी दिया दाना ॥ स० ४ ॥
जोग जानी मुनि देशना दीनी,
पाया समकित लाभ अमाना ॥ स० ५ ॥
द्रव्य मारग बतलाया मुनि को ।
भाव मारग किया आप पिछाना ॥ स० ६ ॥
आतम लक्ष्मी कारण समकित
हर्ष धरी वल्लभ मन माना ॥ स० ७ ॥

जिनेश्वर देव का माता की कुक्षिसे जन्मना, संसार भर के जीवों को उस समय आह्लादित होना, इन्द्रासनों के चलायमान होनेपर असंख्य देव देवियों का राजा सिद्धार्थ के घर आना, लोकाधार उस बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाना, और जन्मोत्सव करना, पीछ जाकर बालकको माता के पास रखना, मदार प्रभृति के पुष्पों से प्रभुकी अर्चा करना, धनधान्य से प्रभु के माता पिताओं के निवासगृह की पूर्तिकरना, माता पिता कृतजन्मोत्सव, नामस्थापना, पाठनविधि का उपक्रम तथा युवावस्था में माता पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् अपने बडे भाई नन्दीवर्धन से पूछकर दीक्षा लेने के पहिले पहिल का महावीरका जितना वृत्तान्त देखो उसको जन्मकल्याणक के अन्दर ही समझना चाहिये । जन्मकल्याणक की शुरूआत नीचे की ढाल से होती है ।

(दोहा)

जन्म समय जिनदेव के, जनपद सुखिया लोक ।
वायु सुखकारी चले, आनन्द मंगल ओक ॥ १ ॥
चैत्र शुक्ल तेरस भली, नक्षत्र उत्तरा जोग ।

आतम लक्ष्मी कारण समकित चमकाती ।
हर्षे वल्लभ प्रभु देख मुख सुख दानी ॥ ज० ४ ॥

नन्दीवर्धन की अनुमति, वरसीदान, पचमुष्टिलोच, चतुर्थज्ञान की प्राप्ति, साढे बारह वर्ष की अति कठिन तपस्या, विहार और भयंकर परीषह, उपसर्गों की तितिक्षा यावत् केवलज्ञान से पहिले पहिले का जितना वर्णन है वह सब तीसरे दीक्षाकल्याणक में ही समझना चाहिये । विशेष स्पष्टता के लिये नीचे लिखे पाठ को पढो ।

(दोहा)

जाने निज दीक्षा समय, पिण लोकान्तिक देव ।
कल्पकरी प्रभु बूझवे, करते प्रभुपद सेव ॥ १ ॥
जय जय नद्दा भद्द हे, जगगुरु जगदाधार ।
धर्म तीर्थ विस्तारिये, मोक्षमार्ग सुखकार ॥ २ ॥

(लावणी)

वरसी दान देवे जिन-राज महा दानी रे । टेक अचली ॥
अनुकपा गुणधार, जन को द्रारिद्र टार ।
जिन हाथे दान ग्रहे भव्य तेह प्रानी रे ॥ व० १ ॥
एक कोडी आठ लाख, एक दिन दान आख ।
संवछर तक इसविधि दान मानी रे ॥ व० २ ॥
वर्ष दोय होए पूरे, पूरे प्रतिज्ञा में सूरे ।
गेहवास वर्ष तीस रहे प्रभु ज्ञानी रे ॥ व० ३ ॥
नगर सजावे राय, थावे इन्द्र हाजर आय ।
विधि से करावे स्नान इन्द्र इन्द्रानी रे ॥ व० ४ ॥
देव के कलश सारे नृप के कलश धारे ।
स्नान नन्दिवर्धन करावे हर्ष आनी रे ॥ व० ५ ॥

वीर प्रभु सज होवे, आतम लक्ष्मी जान ।
वल्लभ हृषमन दीक्षा जिन पानी रे ॥ व० ६ ॥

अनकानक प्रकार क दुस्सह कष्टों को समतापूर्वक सहन करके केवलज्ञान का पाना, दव दवेन्द्र, राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार और १२ ही पर्षदाओं का एकत्र होना, धमापदश द्वारा तीर्थस्थापना का करना, अन्या-यदेशों में फिर कर अनन्त बहिरात्माओंको अतरात्मा बना कर उन के हृदयों में धमबीजका बोना, यावत् निवाण के पहिले पहिल क चरितांश का नाम केवलज्ञान कल्याणक है । सुनिये ध्यान दीजिये—

(दोहा) सयम शुद्ध प्रभाव स, तीर्थंकर भगवान ।
दीक्षा समये ऊपजे, मनपयव शुभ नाण ॥१॥
विचर दश विदश में, कम खपावन काज ।
परिषह अरु उपसग को, सहत श्री जिनराज ॥२॥
गोसाला गोवालिया, चड कोसिया नाग ।
सूलपाणि सगम दिया, सहिया दुख अथाग ॥३॥
सुदि दशमी वैशाख की, उत्तर फाल्गुन जान ।
शाल वृक्ष नीचे हुओ, निर्मल केवल भान ॥ ४ ॥

(बसत–होइ आनन्द बहार)

आज आनन्द अपार र प्रभु केवल पाया ।
केवल पाया घाती खपाया ॥ आज० अचली ॥
उग्रविहारी जगत में र, जिनवर जग जयकार र ॥प्र० १॥
धर्मध्यान धारी बनार, ध्यान शुक्ल लिया धार र ॥प्र० २॥
ध्यान ध्येय ध्याना मिला रे, काढे घाती चार र ॥प्र० ३॥
प्रगटे केवल ज्ञानक र प्रगट आतम सार र ॥ प्र० ४ ॥
आतम लक्ष्मी पामीया र, वल्लभ हर्ष अपार र ॥ प्र० ५ ॥

बस तीस वष गृहस्थावस्थाके, साढे बारह वष १५ दिन छद्मस्थावस्थाके,

पंद्रह दिन कमती साढे उनतीस केवली अवस्था के कुल ७२ सालकी सर्वायु पूर्णकर वीर परमात्मा अपापापुरी में आते हैं। योगनिरोध करनेके पहिले अन्तिम धर्मोपदेश को फरमाते है। अन्तिम क्रिया जिसका नाम योगनिरोध है उसके बलसे योगातीत हालत को प्राप्त कर विनश्वर शरीर को त्याग कर प्रभु निर्वाण पधारते हैं। गौतम स्वामीका विलाप, इन्द्र और देवोंका घोर शोक, नन्दीवर्धनका रुदन, प्रभुका अग्निसस्कार करके इन्द्रोंका नन्दीवर्धन को दिलासा देकर प्रभुकी दाढाओं को लेना, नन्दीश्वरतीर्थकी यात्रा करके देवदेवियों का अपने स्थानों पर जाना, यह सब निर्वाण कल्याणक की क्रिया है।

पहिला कल्याणक आषाढ सुदी ६ दूसरा चैत्र सुदी १३ तीसरा मार्गशीर्षवदी १० चौथा वैशाख सुदी दशमी १० पाचवॉ कार्त्तिकवदी १५। खुलासा नीचे दर्ज है—

(दोहा)

तीस तीस घर केवली, छद्म अधिक कुछ बार।
पूर्णायु प्रभु वीर का, बार साठ निरधार ॥ १ ॥
वसुधातल पावन करी, ऊन वर्ष कछु तीस।
निकट समय निर्वाण को, जानी श्रीजगदीश ॥ २ ॥
पचपन शुभफल के कहे, पचपन इतर विचार।
प्रश्न करे छत्तीस का, विन पूछे विस्तार ॥ ३ ॥

(कव्वाली)

प्रभु श्रीवीरजिन पूजन, करो नरनारी शुभभावे ॥ अ० ॥
किया उपकार जो जगमें, कथन से पार नहि आवे।
तजी भवी मान सब अपना, नमन करी नाथ गुण गावे ॥१॥
सहस छत्तीस साधवीया, सहस चउद साधु गण थावे।
केवली वैक्रिय सत सत सो, वादी सय चार कह लावे ॥ २ ॥

आही मन पयव शानी, तेरासो पांचसो भावे ।
पूरव चउदधारी शत तीनो, चउदसो साध्वी शिव जावे ॥ ३ ॥
श्रावक एक लाख व्रत धारी, एगुण सठ सहस बतलावे ।
श्राविका लाख तिग सहसा, अठारा सूत्र फरमावे ॥ ४ ॥
प्रभु परिवार परिवारिया, अपापा नगरी दीपावे ।
अमा कार्तिक रिख स्वाति, प्रभु निर्वाण सुख पावे ॥ ५ ॥
आतमलक्ष्मी पति स्वामी, हुए निकम्प उपमावे ।
अन्त सपत् प्रभु पामी, वल्लभ मनहर्ष नहीं मावे ॥ ६ ॥

[उच्च जीवात्माओंके उच्च जीवन की उच्च घटनायें]

॥ दया दृष्टि और दीनोद्धार ॥

परमात्मा चारित्र लेकर देशदेशान्तरोंमें विहार कर रहे हैं । उन्होंने देखा कि अमुक विकट अटवीके अमुक स्थलमें "चण्डकौशिक" नामक दृष्टिविष सर्प रहता है । उस क्रूराशयवाले अज्ञानी जीवने आज तक असंख्य निरपराधी जीवोंकी जीवनयात्राको समाप्त कर दिया है । उसकी तीव्र दृष्टिज्वालासे भस्मसात् होकर पक्व फलोंकी नाई पक्षिगण धड़ा धड़ नीचे गिर रहे हैं । इस भयसे उस जगहका आकाशमार्ग भी बन्द हो चुका है । संख्यातीत जीवोंके प्राणोंका शत्रु होकर, वह बिचारा निपट नरकातिथि हो रहा है । यह सोचकर प्रभु उसके उपकारके लिये उसी कनखल आश्रमकी तरफ जहाँ कि वह सर्प रहता था चल पड़े । मार्गमें जाते समय ग्वालोंने उनको रोका और संपूर्ण वृत्तान्त उस सर्पका कह सुनाया, और साथमें यह भी कह दिया कि इस मार्गके बदले दूसरा भी मार्ग है जो थोड़ा घेरा होकर जाता है, आप उधर होकर जाइये जिससे आपको प्राणान्ति आपत्ति न भोगनी पड़े ।

महाराजने ज्ञानद्वारा जान लिया कि यह पामर जीव पूर्वकृत दुष्कृतोंके

प्रभावसे सर्वभक्षी हो रहा हैं "परोपकार पुण्याय" यह सनातन पथ मुख्य तया हमारे लिये ही है। अन्तमें आप निर्भीकावस्थामें उसी रास्ते होकर* चण्डकौशिकके बिल पर जा खड़े हुए। सर्प मनुष्यका आना देखकर क्रुद्ध हुआ और बिलसे बहिर निकल कर सोचने लगा। अरे! जहाँ मेरे भयसे आकाशमार्ग भी बन्द हो रहा है वहाँ यह मनुष्य! सो भी मेरे द्वार पर!!

बस कहना ही क्या था? एक तो सर्प और वह भी दृष्टिविष। पहिले तो उसने लाल आँखें करके प्रभुपर आँखोंका जहर छोडना शुरू किया। और जब इस क्रियासे थक गया, तब महावीर प्रभुके चरण पर डंक मारा। भगवद्देव उस दुःखसे जराभी दुःखी नहीं हुए, जरा नहीं घबराए। सत्य कहा है "कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन किं मन्दराद्रि शिखर चलित कदाचित्?।" परिणाम यह हुआ कि उस उत्कटरोषी महा अपराधी सर्पको परमेश्वरने शान्त किया। जगद्वत्सल प्रभुके प्रभावसे उसे जन्मान्तरका ज्ञान हुआ। परमात्माके समक्ष पन्द्रह दिनकी महा तपस्या करके प्रभुके सुधामय उपदेशको सुनकर वहक्रूर काय सर्प १५ दिन के पश्चात् इस रौद्र शरीरका त्याग कर आठवें देवलोक में पहुँचा।

"सिक्तः कृपासुधा वृष्ट्या, वृष्ट्या भगवतोरग।
पक्षान्ते पञ्चतां प्राप्य, सहस्रारदिवं ययौ॥ १॥"

(त्रिशष्टिश पु. च.)

पूज्य—पूजक समाज.

प्रभुकी हयाती में अठारह देशके राजा जैनधर्म के प्रतिपालक थे। श्री महावीर प्रभुके मामा चेटक (चेडाराजा) जो कि विशाला नगरीके

---

* "अवश्य चैष बोधार्ह इति बुद्ध्या जगद्गुरुः। आत्मपीडा मगणय न्नृजुनैव पथा ययौ॥ १॥

मुकुटबद्ध राजा थे, उन्होंने प्रभुके समक्ष गृहस्थाश्रमके योग्य श्रावकके बारह व्रत धारण किये थे। मगध देशके स्वामी श्रेणिकराजा तो आप के परमभक्त ही थे। उनका लड़का कूणिक (अशोकचन्द्र) जो कि बापकी मृत्युके बाद चंपानगरमें राज्य करने लगा था, बड़ा प्रतापी साम्राज्य शाली शुद्ध जैनधर्मी राजा था॥ २॥ उज्जैनी का नरेश चन्द्रप्रद्योत महावीर देव का गाढ भक्त था।

पंजाब के पश्चिम भागमें "वीतभयपत्तन" जिसे आज कल भेरा कहते हैं एक बड़ा आबाद और अकलीम शहर था वहाँ का राजा उदयन शुद्ध श्रावक था। कूणिक (अशोकचन्द्र) का उत्तराधिकारी उदायी राजा जैनधर्ममें बड़ा ही चुस्त था, और महावीर भगवानकी शिक्षा ओंको पूर्णप्रेम से पालता था। अन्तमें प्रभुके पास दीक्षा लेकर मोक्षाधि कारी हुआ था। प्रदेशीराजा प्रभु को बड़े जलूस के साथ वन्दन करनेके वास्ते आया था। राजा दशार्णभद्र जहाँ तक गृहस्थाश्रम में रहा पूर्णप्रेम से प्रभुसेवा में तत्पर रहा, और अन्तमें जगद्गुरु महावीर परमात्माका दीक्षा लेकर कल्याणभाजन हुआ। भगवत्प्रभुके निर्वाण समय अपापा नगरी में किसी कारणवशात् अठारह राजा एकत्र हुए थे, ये सब जैन धर्मी थे।

॥ महर्धिक श्रावक ॥

(१) वाणिज्य ग्रामका रहने वाला आनन्द नामा जमीनदार आपका श्रावक था, इस के पास बारह करोड़ सुवर्ण मुहरें और चालीस हजार गायें थीं। यह व्यापार कर्ममें बड़ा प्रवीण था। इसके पाँचसौ जल-यान (जहाज) समुद्रमार्गसे भ्रमण किया करते थे। और पाँचसौ गाड़ियें लकड़ी घास वगैरह के लिये रहती थीं।

(२) कामदेव श्रावक जो कि चंपानगरीका रहनेवाला था इसके यहाँ १८ क्रोड़ अशरफियाँ और ६० हजार गायें थीं।

(३) बनारस का चुलनीपिता नामक श्रावक भी १२ व्रतधारी था, इस के पास भी २४ क्रोड सुवर्ण मोहरें और ८० हजार गायें थीं।

(४) सुरादेव श्रावक भी बनारस का ही रहनेवाला था। उसके यहाँ १२ क्रोड सुवर्ण मोहरें और २६००० गायें थीं।

(५)चुल्लशतक श्रावक आलभिका नगरी का एक प्रसिद्ध व्यापारी था उसके पास १२ क्रोड सुवर्ण मोहरोंकी और ६००० गौओंकी सपत्ति थी।

(६) कुण्डकोकिल श्रावक कापिल्यपुर का रहने वाला था। उसकी हैसियत १२ क्रोड सुवर्णमोहरोंकी और ६००० गौओं-की थी।

(७) पोलासपुर नगर का रहनेवाला सद्दालपुत्र (कुँभार) प्रभुका श्रावक था, तीन क्रोड अशरफियें और ५०० मट्टीके बरतनोंकी दुकानें इसकी दौलत थी।

(८) आठवें श्रावक का नाम महाशतक था। यह राजगृही का रहीस था, इसके पास २१ क्रोडसोनैयें और ८००० गायें थीं। इस श्रावक की १३ स्त्रियाँ थीं। प्रधान स्त्रीका नाम रेवती था। यह एक बडे दौलतमंदकी लडकी थी। इसको इसके बापकी तरफसे ८ क्रोड सोनैये और ८००० गायें दहेजमें मिली थीं।

(९) ऐसे ही सावत्थीका रहनेवाला नान्दिप्रिय श्रावक भी बडा खानदान और दौलतमन्द था।

(१०) सावत्थीका रहनेवाला तेतलीपिता भी १२ क्रोड सोनैयों की और ४००० गौओं की हैसियत भोगता था।

इसके अलावा धन्ना, शालिभद्र, धन्नाकाकंदी वगैरह अबजोपाति साहूकार महावीर प्रभुके सेवक थे। जवुकुमारने ९९ कोटि सोनैये छोड कर ५२६ स्त्रीपुरुषोंके साथ प्रभुके शिष्य सुधर्मा स्वामीके पास दीक्षा ली थी।

॥ परमात्माका संदेश ॥

श्रूयता धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मन प्रतिकूलानि, परेषा न समाचरेत् ॥ १ ॥

ससार में प्राणिमात्र को सुख इष्ट है, और दु ख अनिष्ट है । विकले न्द्रियस लेकर इन्द्रपर्यंत सर्व प्राणी सुख के अभिलाषी हैं, परन्तु सुख की प्राप्तिके साधनों को कैसे सपादन करना, इस बात का समझना जरा कठिन है । कितनेक विचारे मोहमूढ पुन्गलानन्दी जीव अपने सुख के लिये दूसरे को दुखमें डालने के उपाय करते हैं । कोई एक धनक नष्ट होन-पर अन्याय चोरी आदि अनाचार करते हैं । कितने ही प्रथम झूठ बोल कर जब किसी प्रसग में खूब हग हो जाते हैं तो फरस कर मुक्त होना चाहते हैं । नि पापको सपाप और पापीको निष्कलङ्क बनानेका उद्यम करने में अपना कौशल प्रकट करते हैं । अपने माथे पर चढ आये हुए आपत्तिके बादल जब दूसरे किसी पर बरस जाते हैं तो धम हीन अश खुशी मनाते फूले नहीं समाते हैं । परन्तु व यह नहीं सम झते कि–

अवश्यमेव भोक्तव्य, कृत कर्म शुभाशुभम् ।
न क्षीयते कृत कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥ १ ॥

(बल्कि) राग द्वेष के दृढ आवेश में आकर धर्म स सर्वथा निर पेक्ष होकर यदि पापाचरण किया जावे तो उस कर्मका परमाणु मात्र स मद होकर भी छूटना कठिन हो जाता है । अपने दोषको न देखकर सिर्फ दूसरे जीवात्माको सताप देकर और आप खुद अकृत्यस निवृत्त न होकर अपने अमूल्य जीवनको व्यय करने मे भी मनुष्य पीछे नहीं हटता ! । ऐसी दशामें उसे उपदेश का देना, सन्मार्गको बतलाना व्यर्थ है । इस विषयमे आचार्य श्री हरिभद्र सुरिजीका एक सूत्र मनन

करने योग्य हैं उन्होंने योग्य मनुष्य को उपदेश देनेका अधिकार वर्णन करते समय कह दिया है कि–

" ये वैनेया विनयनिपुणैस्ते क्रियन्ते विनीता,
नावैनेया विनयनिपुणै. शक्यते संविनेतुम् ।
दाहादिभ्य' समलममलं स्यात्सुवर्णं सुवर्ण,
नायस्पिण्डो भवति कनकं छेददाहक्रमेण ॥ १ ॥"

अर्थ.—जो मनुष्य स्वभावसे ही विनयनिपुण होगा उसे ही उपदेष्टा विशेष ऊंचे दर्जेपर चढा सकता है। जो स्वभाव से ही कठोर परिणामी है, छली है, छिद्रान्वेषी है, परवचक है, उसे कोटि उपदेश भी मार्गगामी नहीं कर सकते।

इस बात पर आचार्य एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त देते हैं कि जो सुवर्ण कुछ अन्य कुधातुओंसे मिश्रित है परन्तु है जातिका सुवर्ण उसी को तेजाब वगैरहके योग से शुद्ध कुन्दन बनाया जा सकता है। परन्तु जो है ही लोहेका टुकडा उसको छेद–दाह–ताडन, तापनादि अनेक उपाय कर के भी कोई सुवर्ण नहीं बना सकता। कहावत है कि " सौमन सावन मलके धोवे गर्दभ गाय न थाय "

॥ संसार स्वरूप ॥

ध्यान हुताशन में अरि ईंधन, झोंक दियौ रिपु–रोक निवारी ।
शोक हर्यो भविलोकन कौ वर, केवलज्ञान मयूख उघारी ॥
लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्म जरा मृत पंक पखारी ।
सिद्धन थोक वसे शिव लोक, तिन्हे पग धोक त्रिकाल हमारी॥१॥

किसी भी राष्ट्र समाज या धर्मकी उन्नति का प्रधान कारण तद्विषयक शिक्षा ही है। सुशिक्षितों को ही अपने अपने देश समाज धर्मकी यथार्थ परिस्थितिका भान हो सकता है। वही उसका उपाय सोच सकते

है । ऐसे सुशिक्षित मनुष्य जिस जातिमें जितने ज्यादा होंगे उतना ही अपना—अपने राष्ट्रका समाज का या कुटुम्बका भला कर सकेंगे ।

वर्त्तमान समयमें देखा जापान जो एशिया के हर्ष का वर्द्धक हो रहा है । उसका कारण आज शिक्षाप्रणाली के सिवाय अन्य क्या माना जा सकता है ? जैसे सूय तुम्हार सामने चक्कर लगाता हुआ दृष्टिगोचर होता है ठीक उसी प्रकारसे सारा ससार नीचेसे ऊपर ऊपरसे नाच उदयसे अस्त अस्तसे उदय इन पयाय धर्मों का वेदन करता चला जा रहा है ।

ससार का कोइ पदार्थ स्थिर नहीं सृष्टि क्रम यह बता रहा है । समय यह कह रहा है कि वह एक न एक दिन नीचे आयेगा, गिरेगा, उसकी जरूर अवनति होगी जो ऊपर गया है, इस विकराल कालकी चालसे बचे हैं तो परमात्मा बचे हैं, बाकी सर्व ससारी जीवोंका चाहे वह इन्द्रसे भी ऊपरके अहमिन्द्र क्यों न हों ? एक रास्ता है ।

ससार और ससारी जीवात्माका ऊपर जाना नीचे आने ही के लिये है । जैसे उन्नति का अन्त अवनति पर ठहरा हुआ है वैसे ही अवनति के बाद अवश्य उन्नति है ।

इस नियमका उल्लघन वह कर सकता है जो ससारसे मुक्त होगया है, वरन् ससार उसीका नाम है जो कोइ इस नियम का उल्लघन न कर सकता हो । कवियों की मान्यता है कि जो जल समुद्र से उठकर भाप होकर बादल बन कर अहकार से मत्त हुआ हमारे ऊपर आकाश में घूम रहा है, इतना ही नहीं, बल्कि—गर्जना और तर्जना कर रहा है, कौन नहीं जानता कि वह एक न एक दिन नीचे आयगा, और वहाँ जायगा जहां से आया था ।

बस यह ससार ही नहीं किन्तु ससार चक्र भी है । आपने अब इसका मतलब अच्छी तरह समझ लिया होगा, अधिक कहना श्रोताओं की बुद्धि की अवज्ञा करना है । कवि कालिदासने लिखा है—

" यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥१॥"

प्रिय बन्धुओ ! जो गिरा हुआ है उसकी अवश्य उन्नति होगी, मान लो कलियुग इसी लिये आया है कि सतयुग का मार्ग साफ और निष्कण्टक बनजाय ।

समय की परिस्थिति ।

देखो कालकी गति कैसी विचित्र दीख पडती है, जब यहां दिन होता है तो अमेरिका में रात होती है । ठीक इसी प्रकार से जब उन्नति का सितारा भारत वर्षपर चमकता था तो अमेरिका वगैरह का कोई नाम भी नहीं जानता था ।

शासन नायक वीर प्रभु के निर्वाणके कुछ वर्ष पीछे अशोक राजा का पौत्र सम्प्रति नरेश हुआ कि जिसने अपने अखण्डशासन के बलसे अमेरिका प्रभृति देशों में भी " स्याद्वाददर्शन " का प्रचार किया । उन उन देशों में अपने सुशिक्षित उपदेष्टाओं को भेज कर जैन धर्मके उन गूढ तत्वों को समझाया जो उन के लिये अश्रुत पूर्व थे । आज भी उन देशों में से निकलती हुई तीर्थंकर देवों की प्रतिमायें इस सत्य घटना की बराबर सत्यरूप से गवाही दे रहीं हैं ।

विद्या और दान

इस वक्तव्य का साराश यही निकला कि संसार का (ससार वर्त्तिपदार्थ मात्र का) परिवर्त्तन स्वभाव है । जिस जनपद का नेता न्यायशील होगा, जहा की जनता अपने हेयोपादेय की समझने वाली होगी, उस का अवश्य उदय होगा । प्राचीन समय में लोग विद्याव्यसनी

होते थे, धन व्यय करने में उदारता प्रकट करते थे, इससे वह अपने समाज के ह्रास के कारणों को देखते ही तत्काल उपाय करलेते थे। आज कल यद्यपि लोग धनसम्पत्ति से सुखी हैं तो भी तादृशज्ञान सम्पदा के न होने से दशका जैसा चाहिये वैसा भला नहीं हो सकता।

हाला कि आज भी भारत के दानवीर दान देने में अपनी प्राचीन उदारता से पीछे नहीं हटे। ऐतिहासिक साधन साक्षी देते हैं कि हमारा यह सभ्य संसार पैसा खर्चने में किसी तरह से भी हाथ पीछे नहीं हटाता।

॥ आदर्शजीवन ॥

यदि कोई हमसे पूछे कि जीवन का अलङ्कार क्या है? तो हम निःसंकोच होकर कह सकते हैं कि चरित्र ही जीवन का एक मात्र अलङ्कार है। चरित्र आत्मा की एक विशेष शक्ति है, इसी शक्ति के प्रभाव से हमारी नीच भावनाओंका दमन होता है, हृदय के अपवित्र भाव दूर होते हैं, हम पवित्रता प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठते हैं, और सत्यकी खोज में प्राण तक देनेको तैयार हो जाते हैं। इसी शक्तिबल के प्रभाव से हम भीषण प्रलोभनोंका सामना करने के लिये खड़े होजाते हैं, सम्राट की अपकृपा से भी विचलित नहीं होते, और कठोर जीवन संग्राम में जयलाभ प्राप्त कर सकते हैं। संसार में जितने प्रतिष्ठित व्यक्ति होगये हैं वे सब इसी अद्भुत शक्तिबल के प्रभाव से पूज्य हुए हैं। धन और ऐश्वर्य द्वारा किसी व्यक्ति ने किसी कालमें भी महत्ता प्राप्त नहीं की। चरित्र ही महत्ता प्राप्त करने का एक मात्र सोपान है।

यह ईश्वर प्रदत्त शक्ति है, यही विश्वका नियता है, इसी के भयसे चन्द्र सूर्य उदय होते हैं, वायु सञ्चालन करती है, इसी से निर्मल पवित्रता का स्रोत प्रवाहित होकर पापमय जगत को स्वर्गभूमि में परिणित कर देता है, वही इस अद्भुत शक्ति का जन्मदाता है। नहीं तो क्षीण

काय दुर्वल मनुष्य किस बलसे बलवान् होकर वह सारे स्वार्थों और अपने प्राणोंतक के विसर्जन कर देने में भी कातर नहीं होता।

एक न्यायका अनुष्ठान करने से सारा ससार तुम्हारी सहायता करने के लिये तैय्यार हो जावेगा। उस न्यायानुष्ठान के प्रतिष्ठिति करने में तुम्हारा सर्वस्व ही क्यों न चला जावे तो भी तुम्हारे हृदय में लेशमात्र भी कष्ट न होगा किन्तु एक अन्याययुक्त आचरण करनेसे तुम्हें सौ विच्छु-ओंके काटने समान पीडा होगी। तुम्हारा हृदय अशान्तिका घर वन जावेगा और तुम ससारको नरक के समान भीषण स्थान समझोगे, तब तुम सोचोगे कि तुम ससार में अकेले हो, सारा ससार तुम्हारी ओर घृणापूर्ण दृष्टिसे देख रहा है, कोई भी तुम्हें आश्वासन द्वारा शान्ति देनेके लिये प्रस्तुत नहीं। ससारके सपूर्ण व्यक्ति गण तुम्हारी पापमय सगति से दूर भागना चाहेंगे। इसी प्रकार न्याय और अन्याय में भी भेद है, भगवान का भक्त भारी विपत्ति में भी अन्याय का परित्याग कर के न्याय का अनुसरण करता है, इस का और कोई कारण नहीं वह न्याय के वीच परमात्माकी शक्ति देखकर ही उसपर अनुराग करता है।

॥ शिक्षा का प्रयोजन ॥

अनेक मातापिता अपने पुत्रको इस आशा से पाठशाला में भेजते हैं कि मेरा बेटा पढलिख कर कोई ऊचा पद प्राप्त करेगा, किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उनका पुत्र चरित्र गठन ही से ज्ञानी वन सकता है। इस विषय की उपेक्षा करना अपनी सतान पर घोर अन्याय करना है। चरित्र गठन ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिये। यह वात सत्य जान पडती है कि विद्वान् होने से उच्च पदकी प्राप्ति होती है, किन्तु चरित्र के अभाव में वह उच्चपद सुरक्षित नहीं रह सकता।

अत एव पुत्रका चरित्रवान् बनाने के लिये चरित्र गठन पर ध्यान रखना मातापिताका प्रधान कर्तव्य है।

सम्राट से लेकर एक सामान्य किसान के बालक को अपने व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिये ज्ञान और चरित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। इतने विवेचन से सिद्ध हुआ कि क्या राजकुमार और क्या किसान के बालक दोनों का शिक्षित होना बहुत आवश्यक है।

अनेक व्यक्तियोंकी धारणा है कि पैतृक व्यवसाय अथवा किसी अन्य व्यवसाय में शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। मैं पूछता हूँ कि मानव समाज को अज्ञान के घोर अन्धकार में रखनेका किसे अधिकार है? किसान के बालक और राजकुमार के अन्तःकरण में जिस प्रमाण से ज्ञानप्रभा प्रकाशित होती है उसी परिमाणानुसार हमारे कार्यकी सिद्धि होती है। चरित्रवान किसान का बालक क्या चरित्रवान राजकुमारके समान सुन्दर नहीं है? तब फिर एक को शिक्षा देकर दूसरे को उससे वंचित रखनेवाले तुम कौन हो? यह बात अवश्य स्वीकार की जा सकती है कि व्यवसायसंबंधी शिक्षा सबको एकसी नहीं दी जासकती। राजकुमारको राजनीतिसंबंधी, और किसान के बालक को कृषिसंबंधी ही शिक्षा देना उचित है, किन्तु जो शिक्षा ज्ञानवान बनाती और चरित्र गठन करती है वह सब को एक ही तरहकी देना उचित है, इस शिक्षा का नाम शिक्षा है।

॥ परमार्थ और देशसेवा ॥

खान की मिट्टी जिसको खान में से खोदकर उसके टुकड़े टुकड़े किये जाते हैं, इतना ही नहीं वरन् उसको गधों पर धराया जाता है, पानीमें भिगो कर उसे पैरोंसे मर्दन किया जाता है, पश्चात् चाकपर चढ़ा घुमाया जाता है तो भी गालियां है उस बरतनमें जो पानी का दिया हुआ

कष्टों को सहन करती हुई भी पात्र बन कर संसारकी स्वार्थसिद्धि करती है ।

और भी सुनिये, कपास के डोडोंको तोड कर धूप में और धूल में फैंक देते हैं, उसकी अस्थियें तोडकर सार निकाल लिया जाता है, उस सारभूत कपास को भी धूप में फेंक कर खूब तपाया जाता है । मार मार कर इसके पीछ पीछे जुदे किये जाते हैं, यत्र में पीली जाती हैं, पिता–पुत्र का आजन्म वियोग किया जाता है, लोहे की शूलीपर चढाया जाता है, अनेक औजारों से मारी पीटी जाती है तो भी वह उपकारी पदार्थ वस्त्र बन कर कुल ससार भरके नरनारियोंके गुप्त प्रदेशों को ढकती है । तो अरे–निसार ! अरे ससारसार जीवन ! मनुष्य ! सचेतन होकर अमूल्य मानवभव से कुछ भी निज पर का उपकार न करेगा तो तुझे और क्या कहें ? एक कविता नीचे दर्ज है उसे सुनता जा बाद तेरी मरजी—

मनुष्य जन्म पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करो रनकी एक एक घरी है ॥

किसीने यह लुकमान से जाके पूछा जरा इसका मतलब तो समझाइयेगा ।

जमाने में कुत्ते को सब जानते है,
वफादार भी उसको सब मानते हैं,
ये करता है जा अपनं मालिक पे कुरबॉ,
खिलाना है बच्चों का घर का निगाहबॉ ॥
भरा है यह खूने महब्बत रगों में,
न देखा सगों में जो देखा सगों में ॥
पडे मार खाकर भी यह दुम दबाना,
कि दुशवार हो जाय पीछा छुडाना ॥
जगत्में है मशहूर इसकी भलाई ।
मगर नाममें हे क्या इसके बुराई ॥

किसी आदमीको कहें हमजो कुत्ता ॥
तो मुहपर वहीं दं पलटकर तमाचा ।
कहा उससे लुकमान ने बात यह है ॥
खुली बात है कछ मुइम्मा नहीं है ।
यह माना है बशक वफादार कुत्ता ॥
बडा जाँ नीसार और गमखार कुत्ता ।
फकत आदमी पर है यह जानेसारी ॥
मगर कौमकी कौम दुश्मन है भारी ।
यह रखता है दिलमें मुहब्बत पराए ॥
खटकते है इसकी निगाहोंमें भाई ।
नजर आने इसको अगर गैर कुत्ता ॥
तो फिर देखिये इसका तोरी बदलना ॥
न जिसने कभी कौमका कौम माना ।
कहे क्यों न मरदूद उसको जमाना ? ॥
बुरा क्यों न मानेंग अहल हमीयत ।
कि–औरोंसे उलफत सगोंसे अदावत ॥

॥ विमर्श–परामर्श ॥

भारत वर्षमें शुभकार्यों के लिये रुपये की कमी नहीं है, किन्तु है लोगोंमें देशभक्ति तथा परोपकारी मनुष्यों का अभाव है, जिनके विना हम लोगोंका समितियों तथा सुधारक कार्योंमें बाधा पड़ती है । "शास्त्रों" में विद्यादान सबसे उत्तमदान कहा गया है इसी लिये जो लोग इस पुण्यकार्य अर्थात् सार्वजनिक शिक्षा प्रदान का यत्न करेंगे वह वास्तव में धर्मात्मा कहे जा सकते हैं । भारत सन्तान अपने दान एवम् उदारता के लिये प्रसिद्ध है । पुरान धर्ममन्दिर आदि चारों ओर दृष्टिगोचर

रहे हैं। और नये मन्दिरों और धर्मशालाओं के बनाने में एव परस्पर-के खिलाने पिलाने में अनुचित रीतिसे " देश का अपरिमित धन व्यय किया जा रहा है। यदि वही धन उचित रीतिसे शिक्षा की उन्नति में व्यय किया जाय अर्थात् देशको उन्नति के शिखरपर पहुंच जाने में अधिक काल नहीं लगेगा। साधारण गणना से प्रतीत होता है कि इस समय " महाराजाओं, राजाओं जागीरदारों रइसों तथा साधारण मनुष्यों " के दानकी सख्या प्रतिवर्ष सत्तर करोड से कम नहीं है। इस अनन्त धन का उचित रीतिसे व्यय होना चाहिये! इस कार्य की सिद्धि के निमित्त प्रत्येक देशवासी को उचित है कि अपनी लेखनी द्वारा लेख प्रकाशित कर तथा उपदेशोंकी सहायता से जनसमूह तथा रइसों का उपकार करें।

साम्प्रदायिक नियंत्रणा

किसी भी सम्प्रदाय के ऐतिहासिक वर्णनों का अवलोकन करने से प्रायः इस बात का पता लगता है कि सम्प्रदाय की डोरी नेताओं के ही हाथ में रही है। नेताओं से हमारा आशय धर्म प्रचारकों से है। और विशेष कर यह लोग साधुः सन्यासी, पोप पादरीः पण्डित राज-गुरु प्रभृति नामों से विभिन्न वेशों से पहिचाने जाते हैं। उन में से जिस किसीने जिस धर्मको अपना मानकर स्वीकृत किया है वह उसकी हर प्रकार से रक्षा करता है जिस प्रकार कृषक बड़ी सावधानी से अपने क्षेत्र की निगहबानी रखता हुआ अन्यान्य पशुपक्षियों तथा यात्रियों से बचाने की योजना करता है। इसी प्रकार यह धर्मनायक भी अपने सम्प्रदाय को बलिष्ठ बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है।

हां! इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि भारत वर्ष में छप्पन लाख साधुओं की संख्या मानी जाती है और इन का भार विशेष कर गृहस्थों पर ही है। इनमें से सन्मार्ग का सदुपदेश देनेवाले कितने हैं।

और अनगल्शादों का प्रयाग कर तथा उत्तम पदार्थों को खाकर मानव जीवनका इतिश्रा तक पहुचाने वाल कितने हैं ?

पहिल समय के साधु अपने कमक्षत्र–तप जप ज्ञान ध्यान–ब्रह्मचर्य –आतापना विनय आदि योगों में विचर कर अनकानक तरह की शक्तियाँ प्राप्त करते थे, और उनके बलस अपने शासनकी ध्वजा पताका फहराते थ।

॥ आत्मशक्ति ॥

शास्त्रोमें प्रसिद्ध है कि चार ज्ञान के धारक उसी जन्म में जिनकी मोक्ष होनेवाली है, ऐसे श्रीगुरु गौतमस्वामी जब सूर्य की किरणोका सहारा लेकर अष्टापद पर चढे तब वहा जो १५ सौ तपस्वी तप कर रहे थे, उन्हों न उनके चमत्कार को देखकर श्रद्धापूर्वक उन को प्रणाम कर अपने गुरु मान लिय। नाच उतरन पर उन सबने हाथ जोडकर पूछा प्रभु! हम १५ सौ तापस ५००–५०० सौ कि टुकडी करके यहां विजन जगल में रहत हैं। अनेक प्रकारकी तपस्या करके सूखे फल फूल खात हैं, तो भी १–२–३पावडीस ऊपर नहीं जा सकते। और हमारे देखते ही देखत आप तुच्छ सी वस्तु का सहारा लेकर ३२ कासक ऊंचे इस पहाड क शिखर पर कैसे चढ गये ? । क्षीराश्रव लब्धिसपन्न गणधर महाप्रभु न वह प्रभसे सकाम और निष्काम तपका स्वरूप समझाकर कहा–जो तप सिर्फ आत्मकल्याणक लिये किया जाता है, और जिसमें ज्ञानयोग की मुख्यता होती है, उस निष्काम अर्थात् इच्छारहित तपके प्रभाव से जीव में अणिमा, महिमा गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व यह आठ प्रकारकी लब्धियां उत्पन्न होती हैं।

> अणिमा महिमा चैव, गरिमा लघिमा तथा ।
> प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व भवन्ति चाष्टसिद्धय ॥ १ ॥

इस बात को सुनकर वह मठके सब तपस्वी श्रीगुरु गौतम-स्वामीजी के पास दीक्षित हुए, गणधर महाराज ने सिर्फ एक ही पात्र में क्षीर लाकर उन सब को खिलाई। उन १५०० मनुष्यों को गौतम गुरुने उतने पात्रकी खीर से ही तृप्त कर दिया। इस बनाव को देख कर उन्होंने बहुत लाभ उठाया। ऐसे ही कहते हैं राजा विश्वामित्र अपने सैनिकों को साथ लेकर वशिष्ट ऋषि के आश्रम में गये। ऋषिने राजाको भोजन देना चाहा, राजाने इनकार करते हुए कहा मे अपने सहचारियोंको भूखा रखकर अकेला भोजन नही करूगा। वशिष्ट बोले हम तुम सबको अपना अतिथि बनाते है, राजा ने हस कर कहा आप इस छोटीसी झोंपडीमें रहकर असंख्य मनुष्य और पशुपक्षियों को क्या खिलायेंगे?, वशिष्ट ने कहा तुम निश्चित रहो हम सभी अतिथियोका सत्कार करेंगे। निदान सभीने ऋषिका न्यौता स्वीकार करके स्नान किया। इधर ऋषिजीने अपनी छोटी झोपडी-मेंसे विविध प्रकार के स्वादिष्ट, रोचक, पाचक भोजन देकर राजाको और उनके साथके असख्य मनुष्यों को तृप्त किया।

सिंहावलोकन।

पूर्वकालके साधु सन्यासी लोग ऐतिहासिक विज्ञान में, पौराणिक विज्ञान में, पदार्थ विद्यामें, षट् दर्शनोके स्वरूप परिज्ञानमें, धर्मोपदेश देने में, नये नये ग्रन्थों के निर्माण करने में, योग विद्या, ब्रह्म विद्या, छात्रकला, नक्षत्रचाल, भूतप्रेतों की विद्या, सपत्तिशास्त्र, कृषिवाणिज्य-कौशल्य, नीतिशास्त्र, राशिविद्या, सर्पादिविषापहारि मणिमन्त्रौषधि परिज्ञान, देवाकर्षणविद्या, प्राणायाम, राजयोग,—पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष द्वारा, वाद जय-पराजय, ससारयात्रा, तीर्थयात्रा. वगैरह सत्कार्योंमें लग रहते थे, आज उन सर्व बातों को ताला लग रहा है। विद्याओं के बदले व्यापार, ऐतिहासिक शास्त्रा के बदले नवल कथायें, पाराणिकादि परिज्ञान तो नामशेष

हो रहा है, पदार्थविद्या तो अंग्रेजों के घरमें, दर्शनशास्त्रों का उदहा खा रही है, उनका भाव ही कौन पूछे ? धर्मोपदेश हैं वो संसारमें अपनी बड़ाई और महत्ता बनाने के लिये, ग्रंथ निर्माण के बदले अगर प्राचीन ऋषियों के बनाये पढ बांचे ही जावें तो भी बस है। कहां तक कहा जाय ! प्राय सारा ही चक्र ऊंधा चल रहा है, जिन के पूर्वजोंने अपने विविध विज्ञान द्वारा राजा महाराजा श्रेष्ठ रईस लोगों को सन्मार्गगामी बनाया था, आज वह अपने पूर्वजों की कीर्तिरूप जायदाद को खा खा कर पापी पेटका वठ उतार रहे हैं। इस बात का स्पष्टीकरण नीचे के पद्यों से भली भांति हो सकेगा।

सुना गया है कि भगवान् श्रीमन्–" महावीर स्वामी " के समय में ३६३ मत थे, परन्तु वर्तमानकाल के दुराग्रह वादके समय में उन मतोंका सख्या भी ३६३ से बढ कर आज कल १००० तक पहुंच गई है।

संसार में साधु सन्यासी–उदासी निर्मले–वैरागी–अलखी–मुनि–ब्रह्म चारी–तापस तपस्वी–नागा अवधूत – संत – महंत – यति – भिक्षु इत्यादि नाम धारक मनुष्यों की संख्या जगत् में ५६ लाख जितनी सुनी जाती है।

[विशेष के लिये देखो देशदर्शन,

वे भूरि संख्यक साधु, जिनके पंथ भेद अनन्त हैं।
अवधूत यति नागा उदासी, सन्त और महन्त हैं॥
हां ! ये गृहस्थोंसे अधिक हैं आज रागी दीखते।
अत्यल्प ही सच्चे विरागी, और त्यागी दीखते॥ १॥
जो कामिनी-कांचन न छूवें, फिर विराग रहा कहां ?
पर चिन्ह तो वैराग्य का, अब है जटाओंमें यहां॥
भूखा मरे कि जन्म खोकर, साधु कहलाने लगे।

चिमटा लिया भस्मी रमाई, मागने ग्याने लगे ॥ २ ॥
सख्या अनुद्योगी जनोकी, हीनतासे बढ रही ।
शुचि साधुता पर भी कुयशकी, कालिमा है चढ रही ॥
भस्म लेपन से कहीं, मनकी मलिनता छूटती ।
हा ! साधुमर्यादा हमारी, अब दिनोदिन टूटती ॥ ३ ॥
यदि ये हमारे साधु ही, कर्तव्य अपना पालते ।
तो देशका बेडा कभी का, पार यह कर डालते ॥
पर हाय ! इन में ज्ञान तो, सब रामका ही नाम है ।
दमकी चिलममें लौ उठाना, मुख्य इनका काम है ॥ ४ ॥
(मैथिलीशरण गुप्त)

एक महापुरुष का कथन है कि—

दुन्नि विसय पसत्ता, दुन्निविहु धणधन्न सगहसमेया ।
सीसगुरुसमदोसा, तारिज्जइ भणसु को केण ? ॥ १ ॥

(भावार्थ) ससारी जीव—जगत्में—साधुओं के निमित्तसे, उनके कहनेसें प्रतिवर्ष (६०) क्रोड रुपया व्यय होता है ।

[देखो " ससार नामक मासिक पत्र "]

जो साधुसतकी सेवा करते है उन के बतलाये हुये रास्ते पर चलते हैं, उनके कहनेसे लाखों क्रोडों रुपये खर्च करते है। वह किस वास्ते ? साधुओं के साथ उनका क्या नाता है ? क्या सम्बन्ध है ? कहना होगा कि धर्म । सिवाय धर्म के जहा और किसी भी किस्म का सबन्ध होगा वहा दोनों को ही हानि ही पहुंचेगी । अतएव सिद्ध हुआ कि ससार में साधु महात्माओं का सचय परिचय गृहस्थ को अनादिकाल की दुर्वासनाओं से बचानेवाला है, हटाने वाला है । परन्तु साधु अपने साधुधर्म में कायम होना चाहिये । अगर ऐसा न होगा तो होगा क्या ? शिष्य अर्थात् गृहस्थ के एक पत्नी, अर्थात् गृहस्थ

जो अपनी एक ही स्त्री पर से तुष्ट है और जिसका गुरु मानना है, उससे कृष्णलीला मनाई जाती है। गृहस्थ के पास बारह महीने के गुजारे के वास्ते दश बीस मन अनाज होगा और गुड़जा के वसारें भी होंगी। और मन में उनके यह ही भावना वर्तती होगा कि एक समय का एक सेर अनाज होजाय तो हम करोड़पति होजायें।

ऐसी हालत में कहना चाहिये कि तरनेवाला तो काष्ठ है मगर नाव लोहेकी है। यह उस किसी प्रकार तार नहीं सकती।

एक घड़ी आधी घड़ी, आधीमें पिण आध।
"तुलसी" संगति साधुकी, कटै कोटि अपराध ॥ १ ॥

शीतरितु–जोरैं अंग सबही सकोरैं तहां
तनको न मोरैं नदी धोरैं धीरज धरैं।
जठकी झकोरैं जहां अबहू चील छोरैं पशु,
पन्छी छाँह छोरैं गिरिकोरैं तप वे धरैं॥
घोर घन घोरैं घटा चहु ओर डोरैं ज्यों ज्यों,
चलत हिलोरैं त्यों त्यों फोरैं बल्य अरैं।
देह नेह तोरैं परमारथ सौं प्रीति जोरैं,
ऐसे गुरुओरैं हम हाथ अंगुली करैं ॥ २ ॥

यह था महात्मा तुलसीदास का और कवि सुंदर दासजी का अभिप्राय घन है यह ऐसे साधुओंके लिये है। उनके लक्षण यह हैं—

आयु विवेक विचारथी संसारमां काम नथी,
स्त्रीपुत्र परिवार सर्वे रामारमा काइ नथी।
हो नगरके वन विजन पटन उभय एक समान छे
ते माहत्मा साधुना मनमां ममा कांइ नथी ॥ १ ॥
"सुख दुःख भव मांणे साधन समवतस '।

॥ पूर्वपर्यालोचन ॥

प्रथम वर्णन किया जा चुका है कि अपने विशद विद्याबलसे, विशुद्ध तपोबलसे, अप्रमत्त क्रियाकाण्डसे, अप्रतिबद्ध विहारसे रम्य उपदेशोंसे, विविध तितिक्षाओंके परिशीलन से, महात्मा पुरुषोंने प्रथम अपने उच्च निर्मल, निष्काम, निर्विकार, एवम् निर्दोष जीवनसे संसारको अपना अनुरागी किया है और तत्पश्चात् ही उनको धर्मोपदेश द्वारा मार्गानुगामी किया है। ऐसे ही संसारके अग्रगण्य गृहस्थ महानुभावोंको भी आवश्यक है कि वह दूसरे को आदर्श बनाने के प्रथम अपने जीवनको असाधारण बनाने का दृढ प्रयत्न करें, बस संपूर्ण संसार उसका दास है।

यह बात भी अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि केवल शिक्षा ही काफी नहीं है, चतुर आदमी दुराचारी भी हो सकता है धर्महीन मनुष्य जितना चतुर होगा उतना ही अत्याचारी होगा, अत एव शिक्षा की नींव धर्म और सच्चरित्रता पर स्थित होनी चाहिये, कोरी शिक्षा किसी भी कामकी नहीं, उससे बुरी वासनायें दूर नहीं हो सकतीं। बुद्धि की वृद्धि का (साधारणतया) सच्चरित्रता पर बहुत थोडा प्रभाव पडता है। बहुतेरे लिखे पढ़े मनुष्य अदूरदर्शी अपव्ययी और आचारभ्रष्ट- देखनेमें आते हैं, अत एव यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों पर स्थित हो। [इसका अधिक विस्तार मितव्ययतासे देखो]

अब देशसेवा के हिमायतियों को गौर कर के सोचना चाहिये कि ऐसा अवसर फिर आना मुश्किल है "स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्"।

बाकी तो विदेशी शिक्षा पाकर भी विदेश भ्रमण करके भी अगर देशसेवा नहीं की तो भाई! तुझे क्या कहें? कविरत्न का कहना है—

अमरीकनों के पात्र जूठ, साफ कर मंडित हुए।
सचे स्वदेशी मानसे, फिर भी नहीं मंडित हुए॥
दृष्टान्त बनते हैं अधिक, यह इस कहावत के लिये।
बारह वरस दिल्ली रहे, पर भाड़ही झोंका किये॥

जर्मनी में सेनाविभागवाले लोग और वणिक लोग कबूतरों तथा अन्य पालित चिड़ियों को शिक्षित करने और कई तरह से अपने काम के योग्य बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। वे इनके गले में चिट्ठी तथा पत्रों को रुमाल से बांधकर एक जगह से दूसरी जगह लेजाने की शिक्षा देते है। वणिक लोग अपनी शाखाओं में जो किसी नदी के पार हैं नाव आदिकी प्रतीक्षा न कर अति आवश्यक पत्रों को इन्हीं पक्षियों के द्वारा भेजा करते हैं। उसी तरहसे सेना विभाग भी युद्धके समय शिक्षित कबूतरों से संवाद भेजने का काम लेता है। समाचार पत्रों में पढ़े लिखे लोगों को यह संवाद मिला होगा कि हाल में जो प्रदर्शनी जर्मनीमें हुई थी उसमें १०,०० शिक्षित कबूतर लाये गये थे जो निश्चित स्थानों पर सम्वाद पहुंचाते थे। इन कारणों से जर्मनीमें एक कबूतर का मारना वध के मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है।

जैन धर्ममें गृहस्थाश्रमके पांच नियम।

१—निष्कारण निरपराधी जीव को जानकर न मारना। और जिस ने अपना अपराध किया है जहां तक हो सके उसपर भी क्षमा करनी।

२—अव्वल तो सर्वथा झूठ न बोलना, अगर निर्वाह न होसके तो कन्या, गौ, भूमि, इन तीन चीजों के विषय में तो झूठ न बोलना और अमानत गुम्म न करना, ४ झूठी गवाही न देना।

३—मालिक की इजाजत के सिवाय किसी की चीज पर अपनी मालिकी न करना अर्थात् चोरी न करना।

४ स्वस्त्री संतोष कर—परस्त्री गमन का त्याग करना ।

५—धनसम्पति का सन्तोष—इच्छानिरोध तृष्णा का घटाना ।

जैनधर्म की प्रौढ और प्रकृष्ट शिक्षा यह ही है कि सर्व जीवात्माओं को चाहे वह छोटे हों चाहे बडे हों, अमीर हों या गरीब हों, सबका भला करो, सब को अपने आत्मा के समान मानो । बिना प्रयोजन किसीको मत सताओ "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" जिसको तुम सताओगे वह कभी न कभी तुम्हारा भी नुकसान करेगा, उस वक्त तुमको बहुत बडा क्लेश होगा ।

"बदन सोचे जेम गर दू गर कोई मेरी सुने ।
है यह गुम्मज की सदा जैसी कहे वैसी सुने ॥"

(१) जैनधर्म को स्वीकार कर के कुमारपाल जैसे राजाओं ने देशों में जूका जैसे क्षुद्र प्राणियों की भी रक्षा की है, मगर जब देश रक्षण का काम पडा तब तलवार लेकर मैदान में भी उतरे हैं । कवि दलपत-रामने लिखा है कि "जैनो की दयाने संसार को कमजोर कर दिया है" मगर यह सरयाम भूल है, जैन के इतिहास पुस्तकोंसे बराबर सिद्ध होता है कि महावीर के परम भक्त द्वादश व्रत धारक श्रावक राजा चेटक (चेडा) ने १२ वर्षतक कूणिक राजा से संग्राम किया है । उदायी राजा ने मालवेश उज्जयनी पति चडप्रद्योतन को जीता है । संप्रति राजाने त्रिखण्डभूमिका बिजय किया है । कुमारपालने सपादलक्षके राजाको, (शाकंभरी) सांभरके नरपतिको, चन्द्रावती के राजा सामन्तसिंह को जीता है । इतना ही नहीं वल्कि उनके जैनमंत्रि भी लडाइयों में विजय पाते रहे है, कुमारपालका मुख्य प्रधान उदयन लडाई में ही मारा गया था । कुमारपाल के पूर्व गुजरात के राजा देव हो चुके है, उनका मंत्री विमलशाह बडा बहादुर था, तीर और तलवार को लेकर शत्रुओं को उत्साहसे पराजित करता था । सिन्ध की चढाई में विमल की

बहादुरी से ही सिंधपति पकडा गया था। प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल तेज-पाल ने कई बार गुजरात की तरफ आते हुए यवनों को परास्त कर के पीछे लौटाया था। मेवाड केशरी महाराणा प्रताप जब सब तरह से हारकर मुगल बादशाह से सन्धि करने को तैयार हुवे थे तब उन को सहायता देकर फिरसे उत्साहित करनेवाला भामाशाह मारवाड जैन धर्मका ही उपासक था। प्रसिद्ध है कि १२ वर्षतक हाथी घोडे सहित २५ हजार फौजी मनुष्यों का पालन हो सके इतनी सहायता देकर भामाशाह सेठने भारत के अस्त होते सूर्यको थाम लिया था। इतना ही नहीं बल्कि अपने राज्यको किसी कारण सर छोडकर चित्तौडमें आये हुए बहादुर शाहको आपत्ति के समय किसी भी शर्तके बिना एक लाख रुपया देकर उसे सुखी करनेवाला भाग्यवान् कर्मशाह भी जैन ही था।

तीर्थंकर देवोंका यह ही उपदेश है कि सभीका लाभ चाहो। तुम्हारा खुदका भी भला होगा। मनसे वचनसे और कर्मसे जीवमात्र के साथ मैत्री रक्खो। सदाकाल सत्यभाषी रहो। जिह्वा यह दक्षिणावर्त्त शंख है, इसमें कीचड मत भरो, अगर हो सके तो कामधेनुका दूध भरो, यह तुमको वाञ्छितफल का देनेवाला होगा ॥ १ ॥

जैनधर्मका अहिंसातत्त्व।

जैनधर्म के सब ही 'आचार' और 'विचार' एक मात्र 'अहिंसा' के तत्त्व पर रचे गये हैं। यों तो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध आदि सभी प्रसिद्ध धर्मों ने अहिंसा को 'परम धर्म' माना है और सभी ऋषि, मुनि साधु सन्त इत्यादि उपदेष्टाओं ने अहिंसा का महत्त्व और उपादेयत्व बतलाया है; तथापि इस तत्त्व को जितना विस्तृत, जितना सूक्ष्म, जितना गहन और जितना आचरणीय जैनधर्म ने बनाया है, उतना अन्य किसी ने नहीं। जैनधर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसातत्त्व को

चरम सीमा तक पहुचा दिया है। उन्होंने केवल अहिंसा का कथन मात्र ही नहीं किया है परन्तु उसका आचरण भी वैसा ही कर दिखाया है। और और धर्मों का अहिंसा तत्त्व केवल कायिक बन कर रह गया है परन्तु जैनधर्म का अहिंसा तत्त्व उससे बहुत कुछ आगे बढकर वाचिक और मानसिक से भी पर—आत्मिक रूप बन गया है। औरों की अहिंसा की मर्यादा मनुष्य और उससे जादह हुआ तो पशु—पक्षी के जगत् तक जाकर समाप्त हो जाती है; परन्तु जैनी अहिंसा की कोई मर्यादा ही नहीं है। उसकी मर्यादा मे सारी सचराचर जीव जाति समा जाति है और तो भी वह वैसी ही अभिन्न रहती है। वह विश्व की तरह अमर्याद—अनंत है और आकाश की तरह सर्व पदार्थ व्यापी है।

परन्तु जैनधर्म के इस महत् तत्त्व के यथार्थ रहस्य को समझने के लिये बहुत ही थोडे मनुष्यों ने प्रयत्न किया है। जैन की इस अहिंसा के बारे में लोगों में बडी अज्ञानता और बेसमझी फैली हुई है। कोई इसे अव्यवहार्य बतलाता है तो कोई इसे अनाचरणीय बतलाता है। कोई इसे आत्मघातिनी कहता है और कोई राष्ट्रनाशिनी। कोई कहता है जैनधर्म की अहिंसा ने देश को पराधीन बना दिया है और कोई कहता है, इसने प्रजा को निर्वीर्य बना दिया है। इस प्रकार जैनी अहिंसा के बारे में अनेक मनुष्यों के अनेक कुविचार सुनाई देते हैं। कुछ वर्ष पहले देशभक्त पंजाबकेशरी लालाजी तक ने भी एक ऐसा ही भ्रमात्मक विचार प्रकाशित कराया था, जिसमें महात्मा गांधीजी द्वारा प्रचारित अहिंसा के तत्त्व का विरोध किया गया था, और फिर जिसका समाधायक उत्तर स्वयं महात्माजी ने दिया था। लालाजी जैसे गहरे विद्वान् और प्रसिद्ध देशनायक हो कर तथा जैन साधुओं का पूरा परिचय रखकर भी जब इस अहिंसा के विषय में वैसे भ्रान्तविचार रख

सकते हैं तो फिर अन्य साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या की जाय। हाल ही में—कुछ दिन पहले—जी के नरीमान नामक एक पारसी विद्वान् ने महात्मा गांधीजी को सम्बोधन कर एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने जैनों की अहिंसा के विषय में ऐसे ही भ्रमपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं। मि नरीमान एक अच्छे ओरिएन्टल स्कॉलर हैं, और उनको जैन साहित्य तथा जैन विद्वानों का कुछ परिचय भी मालूम देता है। जैनधर्म से परिचित और पुरातन इतिहास से अभिज्ञ विद्वानों के मुंह से जब ऐसे अविचारित उद्गार सुनाई देते हैं, तब साधारण मनुष्यों के मन में उक्त प्रकार की भ्रांति का ठस जाना स्वाहजिक है। इस लिये हम यहां पर संक्षेप में आज जैनधर्म की अहिंसा के बारे में जो उक्त प्रकार की भ्रांतियां जनसमाज में फैली हुई हैं, उनका मिथ्यापन दिखाते हैं।

जैनी अहिंसा के विषय में पहला आक्षेप यह किया जाता है कि—जैनधर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा कि मर्यादा को इतनी लम्बी और इतनी विस्तृत बना दी है कि, जिससे लगभग वह अव्यवहार्य की कोटि में जा पहुंची है। जो कोई इस अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना चाहे तो उसे अपनी समग्र जीवनक्रियायें बंध करनी होंगी और निश्चेष्ट हो कर देहत्याग करना होगा। जीवनव्यवहार को चालू रखना और इस अहिंसा का पालन भी करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इस अहिंसा के पालन का मतलब आत्मघात करना है; इत्यादि।

यद्यपि इसमें कोई शक नहीं है कि—जैन अहिंसा की मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और इस लिये उसका पालन करना सबके लिये बहुत ही कठिन है। तथापि यह सर्वथा अव्यवहार्य है या आत्मघातक

है, इस कथन में किंचित् भी तथ्य नहीं है । न यह अव्यवहार्य ही है और न आत्मघातक ही । यह बात तो सब कोई स्वीकारते और मानते हैं कि, इस अहिंसा तत्त्व के प्रवर्तकों ने इसका आचरण अपने जीवन में पूर्ण रूप से किया था । वे इसका पूर्णतया पालन करते हुए भी वर्षों तक जीवित रहे और जगत् को अपना परम तत्त्व समझाते रहे । उनके उपदेशानुसार अन्य असंख्य मनुष्यों ने आज तक इस तत्त्वका यथार्थ पालन किया है परंतु किसीको आत्मघात करनेका काम नहीं पडा । इस लिये यह बात तो सर्वानुभवसिद्ध जैसी है कि जैन अहिंसा अव्यवहार्य भी नहीं है और इसका पालन करने के लिये आत्मघात की भी आवश्यकता नहीं है ! यह विचार तो वैसा ही है जैसा कि महात्मा गांधी-जीनें देशके उद्धार निमित्त जब असहयोग की योजना उद्घोषित की, तब अनेक विद्वान और नेता कहलाने वाले मनुष्योंने उनकी इस योजनाको अव्यवहार्य और राष्ट्रनाशक बतानेकी बडी लंबी लंबी बातें की थीं और जनताको उसे सावधान रहने की हिदायत दी थी । परंतु अनुभव और आचरण से यह अब निस्संदेह सिद्ध हो गया कि न असहयोग की योजना अव्यवहार्य ही है और न राष्ट्रनाशक ही । हां जो अपने स्वार्थका भोग देनेके लिये तैयार नहीं और अपने सुखोंका त्याग करने को तत्पर नहीं उनके लिये ये दोनों बातें अवश्य अव्यवहार्य है; इसमें कोई संदेह नहीं है । आत्मा या राष्ट्रका उद्धार विना स्वार्थत्याग और सुख परिहार के कभी नहीं होता । राष्ट्र को स्वतंत्र और सुखी बनानेके लिये जैसे सर्वस्व अर्पण की आवश्यकता है वैसे ही आत्मा को आधि व्याधि उपाधिसे स्वतंत्र और दुःख द्वंद्वसे निर्मुक्त बनानेके लिये भी सर्व मायिक सुखों के बलिदान कर देनेकी आवश्यकता है । इस लिये जो " मुमुक्षु " (बंधनोंसे मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवाला) है—राष्ट्र और आत्माके उद्धारका इच्छुक है उसे तो यह जैन अहिंसा कभी भी अव्यवहार्य या

आत्मनाशक नहीं मालूम दगा परन्तु स्वार्थलोलुप और सुखैषी जीवोंकी बात अलग है ।

जैन धर्मकी अहिंसा पर दूसरा परंतु बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि—इस अहिंसा के प्रचारने भारत को पराधीन और प्रजाको निर्वीर्य बना दिया है । इस आक्षेपके करने वालों का मत है कि अहिंसा के प्रचारसे लोकोंमें शौर्य नहीं रहा । क्योंकि अहिंसाजन्य पापसे डर कर लोकोंने मांस भक्षण छोड़ दिया; और बिना मांस भक्षणके शरीरमें बल और मनमें शौर्य नहीं पैदा होता । इस लिये प्रजाके दिलमेंसे युद्धकी भावना नष्ट हो गई और उसके कारण विदेशी और विधर्मी लोकोंने भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लिया । इस प्रकार अहिंसाके प्रचारसे देश पराधीन और प्रजा पराक्रमशून्य हो गई ।

अहिंसा के बारे में की गई यह कल्पना नितान्त युक्तिशून्य और सत्यसे पराङ्मुख है । इस कल्पनाके मूलमें बड़ी भारी अज्ञानता और अनुभवशून्यता रही हुई है । जो यह विचार प्रदर्शित करते हैं उनको न तो भारतके प्राचीन इतिहासका पता होना चाहिए और न जगत के मानव समाजकी परिस्थितिका ज्ञान होना चाहिए । भारतकी पराधीनताका कारण अहिंसा नहीं है परन्तु भारतकी अकर्मण्यता अज्ञानता और असहिष्णुता है और इन सबका मूल हिंसा है । भारतका पुरातन इतिहास प्रकट रूपसे बतला रहा है कि जब तक भारतमें अहिंसाप्रधान धर्मोंका अभ्युदय रहा तब तक प्रजामें शान्ति, शौर्य, सुख और संतोष यथेष्ट व्याप्त थे । अहिंसा धर्मके महान उपासक और प्रचारक नृपति मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और अशोक थे; क्या इनके समयमें भारत पराधीन हुआ था ? अहिंसा धर्मके कट्टर अनुयायी दाक्षिणके कदंब, पल्लव और चौलुक्य वंशोंके प्रसिद्ध प्रसिद्ध महाराजा थे; क्या उनके राजत्वकालमें किसी परचक्रने आकर भारतको सताया था ? अहिंसा तत्वका अनुयायी चक्र

वर्ती सम्राट श्रीहर्ष था, क्या उसके समयमें भारतको किसीने पद दलित किया था ? अहिंसा मतका पालन करने वाला दक्षिणका राष्ट्रकूट वंशीय नृपति अमोघवर्ष और गुजरातका चालुक्य वंशीय प्रजापति कुमारपाल था, क्या इनकी अहिंसोपासनासे देशकी स्वतंत्रता नष्ट हुई थी ? इतिहास तो साक्षी दे रहा है कि भारत इन राजाओंके राजत्व कालमें अभ्युदयके शिखर पर पहुंचा था। जब तक भारतमें बौद्ध और जैन धर्मका जोर था और जब तक ये धर्म राष्ट्रीय धर्म कहलाते थे तब तक भारतमें स्वतंत्रता, शांति, संपत्ति इत्यादि पूर्ण रूपसे विराजित थी। अहिंसाके इन परम उपासक नृपतियोंने अहिंसा धर्मका पालन करते हुए भी अनेक युद्ध किये. अनेक शत्रुओंको पराजित किये और अनेक दुष्टजनोंको दण्डित किये। इनकी अहिंसोपासनाने न देश को पराधीन बनाया और न प्रजाको निर्वीर्य बनाया। जिनको गुजरात और राजपूतानेके इतिहासका थोड़ा बहुत भी वास्तविक ज्ञान है वे जान सकते हैं कि इन देशोंको स्वतंत्र, समुन्नत और सुरक्षित रखनेके लिये जैनोंने कैसे कैसे पराक्रम किये थे। जिस समय गुजरातका राज्यकार्यभार जैनोंके अधीन था—महामात्य, मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि बड़े बड़े अधिकारपद जैनोंके अधीन थे—उस समय गुजरातका ऐश्वर्य उन्नतिकी चरम सीमा पर चढा हुआ था। गुजरातके सिंहासनका तेज दिग्दिगत व्यापी था। गुजरातके इतिहासमें दंडनायक विमलशाहा, मंत्री मुंजाल, मंत्री शांतु, महामात्य उदयन और बाहड, वस्तुपाल और तेजपाल; आभू और जगडू इत्यादि जैन राजद्वारी पुरुषोंको जो स्थान है वह औरोंको नहीं है। केवल गुजरात ही के इतिहासमें नहीं परंतु समूचे भारत के इतिहासमें भी इन अहिंसाधर्म के परमोपासकों के पराक्रमकी तुलना रखनेवाले पुरुष बहुत कम मिलेंगे। जिस धर्मके परम अनुयायी स्वयं ऐसे शूरवीर और पराक्रमशाली थे और जिन्होंने अपने पुरुषार्थसे देश और राज्यको खूब

समृद्ध और सत्वशील बनाया था, उस धर्मके प्रचारसे देशकी या प्रजाकी अधोगति कैसे हो सकती है ? देशकी पराधीनता या प्रजाकी निर्वीयतामें कारणभूत ' अहिंसा ' कभी नहीं हो सकती । जिन देशोंमें ' हिंसा ' का खूब प्रचार है, जो अहिंसाका नाम तक नहीं जानते हैं, एक मात्र मांस ही जिनका शाश्वत भक्षण है और पशुसे भी जो अधिक क्रूर होते हैं क्या वे सदैव स्वतंत्र बन रहते हैं । रोमन साम्राज्य ने किस दिन अहिंसाका नाम सुना था ? और मांस भक्षण छोडा था ? फिर क्यों उसका नाम संसारसे उठ गया । तुर्क प्रजामेंसे कब हिंसा भाव नष्ट हुआ और क्रूरताका लोप हुआ ? फिर क्यों उस के साम्राज्यका आज यह दीन दशा हो रही है ? आयर्लैण्डमें कब अहिंसाकी उद्घोषणा की गई थी ? फिर क्यों वह आज शताब्दियोंसे स्वाधीन होनेके लिये तडफडा रहा है ? दूसरे देशोंकी बात जाने दीजिए—खुद भारत ही के उदाहरण लीजिए । मुगल साम्राज्यके चालकोंने कब अहिंसाकी उपासना की थी जिससे उनका प्रभुत्व नामशेष हो गया और उसके विरुद्ध पेशवाओंने कब मांस भक्षण किया था जिससे उनमें एकदम वीरत्वका वेग उमड आया । इससे स्पष्ट है कि देशकी राजनैतिक उन्नति—अवनतिमें हिंसा—अहिंसा कोई कारण नहीं है । इसमें तो कारण केवल राजकर्ताओंकी कार्यदक्षता और कर्तव्यपरायणता ही मुख्य है ।

हां, प्रजाकी नैतिक उन्नति—अवनतिमें तत्वतः अहिंसा—हिंसा अवश्य कारणभूत होती है । अहिंसाकी भावनासे प्रजामें सात्विक वृत्ति खिलती है और जहां सात्विक वृत्तिका विकास है वहां सत्वका निवास है । सत्वशाली प्रजा ही का जीवन श्रेष्ठ और उच्च समझा जाता है इससे विपरीत सत्वहीन जीवन कनिष्ठ और नीच गिना जाता है । जिस प्रजामें सत्व नहीं वहां, संपत्ति, स्वतंत्रता आदि कुछ नहीं । इस लिये प्रजाकी नैतिक

है—'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह —अहिंसा' अर्थात् सब तरह से, सब समय में, सभी प्राणियों के साथ अद्रोह भाव से बरतना—प्रेम-भाव रखना उसका नाम अहिंसा है । इसी अर्थ को विशेष स्पष्ट करने के लिये ईश्वरगीता में लिखा है कि—

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा
>
> अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभि ।

अर्थात्—मन, वचन और कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को दुःख नहीं पहुंचाने का नाम महर्षियों ने 'अहिंसा' कहा है । इस प्रकार की अहिंसा के पालन की क्या आवश्यकता है इसके लिये आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—

> आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
>
> चिन्तयन्नात्मनाऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥

अर्थात्—जैसे अपनी आत्मा को सुख प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय लगता है, वैसे ही सब प्राणियों को लगता है । इस लिये अपनी आत्मा के समान अन्य आत्माओं के प्रति भी अनिष्ट ऐसी हिंसा का आचरण कभी नहीं करना चाहिये । यही बात स्वयं श्रमणभगवान श्री महावीर ने भी इस प्रकार कहा है—

"सव्वे पाणा पिया, सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पिय वहा, पिय-जीविणो, जीविउकामा । (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचण ।"

अर्थात्—सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सबको प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवित सभी को प्रिय लगता है—सब जीने की इच्छा रखते हैं । इसलिये किसीको मारना या कष्ट न देना चाहिए । अहिंसा के आचरण की आवश्यकता के लिये इससे बढ़कर और कोई दलील नहीं है—और कोई दलील हो ही नहीं सकती ।

परन्तु यहां पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इस प्रकार की
अहिंसा का पालन सभी मनुष्य किस तरह कर सकते हैं । क्योंकि ऐसा
कि शास्त्रों में कहा है—

जले जीवाः स्थले जीवा जीवाः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले जीवा सर्वं जीवमयं जगत् ॥

अर्थात् जल में, स्थल में, पर्वत में, अग्नि में इत्यादि सब जगह जीव
भरे हुए हैं—सारा जगत जीवमय है । इसलिये मनुष्य के प्रत्येक
व्यवहारमें—खान में, पान में, चलने में, बैठने में, व्यापार में, विहार में
इत्यादि सब प्रकार के व्यवहार में—ही हिंसा होती है । बिना हिंसा के
कोई भी प्रवृत्ति नहीं की जासकती । अतः इस प्रकार की संपूर्ण अहिंसा
के पालन करने का अर्थ तो यह हो सकता है, मनुष्य अपनी सभी
जीवन क्रियाओं को बन्द कर, योगी के समान संन्यस्त हो इस नर-
देह का बलात् नाश कर दे । ऐसा करने के सिवाय,—अहिंसा का भी
पालन करना और जीवन को भी बचाये रखना, यह तो आकाश—कुसुम
की गन्ध की अभिलाषा के समान ही निरर्थक और निर्विचार है ।
अतः पूर्ण अहिंसा यह केवल विचार का ही विषय हो सकता है
आचार का नहीं ।

यह प्रश्न यथार्थ है । इस प्रश्न का समाधान अहिंसा के भेद और
अधिकारी का निरूपण करने से होगा । इसलिये प्रथम अहिंसा के भेद
बतलाये जाते हैं । जैनशास्त्रकारों ने अहिंसा के अनेक प्रकार बतलाये
हैं; जैसे स्थूल अहिंसा; और सूक्ष्म अहिंसा; द्रव्य अहिंसा और भाव
अहिंसा; स्वरूप अहिंसा और परमार्थ अहिंसा, देश अहिंसा और सर्व
अहिंसा; इत्यादि । किसी भी चलते फिरते प्राणी या जीव को जानकर
से न मारने की प्रतिज्ञा का नाम स्थूल अहिंसा है, और सर्व प्रकार
के प्राणियों को सब तरह से क्लेश न पहुंचाने की आचरण का नाम

सूक्ष्म अहिंसा है। किसी भी जीव को अपने शरीर से दु ख न देने का नाम द्रव्य अहिंसा है और सब आत्माओं के कल्याण का कामना का नाम भाव अहिंसा है। यही बात स्वरूप और परमार्थ अहिंसा क बार में भी कही जासकती है। किसी अश में अहिंसा का पालन करना देश अहिंसा कहलाती है और सब प्रकार—सपूर्णतया अहिंसा का पालन करना सर्व अहिंसा कहलाती ह।

यद्यपि आत्मा को अमरत्व की प्राप्ति के लिय और ससार क सब बन्धनों स मुक्त होन के लिय अहिंसा का सपूर्णरूप से आचरण करना परमावश्यक है। बिना वैसा किय मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती। तथापि ससार निवासी सभी मनुष्यों में एकदम ऐसी पूर्ण अहिंसा क पालन करन की शक्ति और योग्यता नहीं आसकती, इसलिये न्यूनाधिक शक्ति और योग्यता वाले मनुष्यों के लिये उपयुक्त रीति स तत्त्वज्ञों न अहिंसा के भद कर क्रमश इस विषय में मनुष्य का उन्नता होन की सुविधा बतला दी है। अहिंसा के इन भेदों क कारण उसके अधिकारियों में भद कर दिय गया है। जो मनुष्य अहिंसा का सपूर्णतया पालन नहीं कर सकते, व गृहस्थ–श्रावक–उपासक–अणुव्रती देशव्रती इत्यादि कहलात हैं। जब तक जिस मनुष्य म ससार क सब प्रकार क मोह और प्रलोभन का सर्वथा छोड देन का जितना आत्मशक्ति प्रकट नहीं होती तब तक वह ससार मे रहा हुआ और अपना गृहव्यवहार चलाता हुआ धीरे धीरे अहिंसाव्रत क पालन में उन्नति करता चला जाय। जहाँ तक हो सके वह अपने स्वार्थों का कम करता जाय और निजी स्वार्थ क लिये प्राणियों के प्राण मारने ताडन–छदन–आक्रोशन आदि क्रूरताजनक व्यवहारों का परिहार करता जाय। ऐसा गृहस्थ क लिये कुटुंब देश या धर्म के रक्षण क निमित्त *यदि स्थूल हिंसा करनी पडे तो उसे अपने व्रत मे कोई हानि नहीं पहु-*

र्ती । क्योंकि जब तक वह गृहस्थी लेकर बैठा है तब तक समाज, देश और धर्म का यथाशक्ति रक्षण करना यह उसका परम कर्तव्य है। यदि किसी भ्रांतिवश वह अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है तो उसका नैतिक अधःपात होता है, और नैतिक अधःपात यह एक सूक्ष्म हिंसा है। क्योंकि इससे आत्मा की उच्चवृत्ति का हनन होता है। अहिंसा धर्म के उपासक के लिये निजी स्वार्थ—निजी लोभ के निमित्त स्थूल हिंसा का त्याग पूर्ण आवश्यक है। जो मनुष्य अपनी विषय तृष्णा की पूर्ति के लिये स्थूल प्राणियों को क्लेश पहुंचाता है, वह कभी किसी प्रकार अहिंसाधर्मी नहीं कहलाता। अहिंसक गृहस्थ के लिये यदि हिंसा कर्तव्य है तो वह केवल परार्थक है। इस सिद्धान्त से विचारक् समझ सकते हैं कि, अहिसाव्रत का पालन करता हुआ, भी गृहस्थ अपने समाज और देश का रक्षण करने के लिये युद्ध कर सकता है— लडाई लड सकता है। इस विषय की सत्यता के लिये हम यहां पर ऐतिहासिक प्रमाण भी दे देते हैं—

गुजरात के अन्तिम चौलुक्य नृपति दूसरे भीम (जिसको भोला भीम भी कहते हैं) के समय में, एक दफह उसकी राजधानी अणहिलपुर पर मुसलमानों का हमला हुआ। राजा उस समय राजधानी में हाजर न था—केवल राणी मौजूद थी। मुसलमानो के हमले से शहर का सरक्षण कैसे करना इसकी सब अधिकारियों को वडी चिन्ता हुई। दडनायक (सेनाधिपति) के पद पर उस समय एक आभु नामक श्रीमालिक वणिक श्रावक था। वह अपने अधिकार पर नया ही आया हुआ था, और साथ मे वह वडा धर्माचरणी पुरुष था। इसलिये उसके युद्धविषयक सामर्थ्य के बारे में किसीको निश्चित विश्वास नहीं था। इधर एक तो राजा स्वयं अनुपस्थित था, दूसरा राज्यमें कोई वैसा अन्य पराक्रमी पुरुष न था, और तीसरा, न राज्यमें यथेष्ट सैन्य ही था। इस

म्पि राणी का बड़ी चिन्ता हुइ । उसने किसा विश्वस्त और योग्य मनुष्य क पाससे दन्डनायक आमु की क्षमता का कुछ हाल जान कर स्वय उसे अपने पास बुलाया और नगर पर आई हुइ, आपत्ति के सम्बन्ध मे क्या उपाय किया इसकी सलाह पूछी । तव दन्डनायकने कहा कि यदि महाराणी का मुझ पर विश्वास हो और युद्ध सबन्धा पूरी सत्ता मुझे सौप दी जाय तो मुझे श्रद्धा है कि मैं अपने देश का शत्रु के हाथ स बाल बाल बचा लूगा । आमू के इस उत्साहजनक वचन को सुनकर राणी खुश हुई और युद्ध सबधी सपूण सत्ता उसका दकर युद्धका घेषणा कर दी । दन्डनायक आमु ने उसी क्षण सैनिक सघटन कर लडाइ के मैदान में डेरा किया । दूसरे दिन प्रात काल से युद्ध शुरू होन वाला था । पहले दिन अपनी सना का जमाव करते करते उस सन्ध्या हो गइ । वह व्रतधारी श्रावक था इसलिय प्रतिदिन उभय काल प्रतिक्रमण करने का उसको नियम था । सध्या क पडने पर प्रतिक्रमण का समय हुआ देख उसने कहीं एकांत मे जाकर ऐसा करनेका विचार किया । परतु उसा क्षण मलूम हुआ कि उस समय उसका वहांस अन्यत्र जाना इच्छित कार्य में विघ्नकर था, इसलिय उसने वहीं हाथी क होद पर बैठ ही बैठे एकाग्रता पूवक प्रतिक्रमण करना शुरू कर दिया । जब वह प्रतिक्रमण में आन वाले—"जेमे जीवा विराहिया–एगिंदिया–बेइंदिया" इत्यादि पाठ का उच्चारण कर रहा था तब किसी सैनिक न उसे सुन कर किसी अन्य अफसर से कहा कि—देखिए जनाब हमारे सेनापति साहब तो इस लडाइ क मैदान मे भी—जहां पर शस्त्रास्त्र की झनाझन हो रही है मारो मारो की पुकारें बुलाइ जा रही हैं वहाँ—एगिन्दिया बेइंदियां कर रहे हैं । नरम नरम सीरा खाने वाले ये श्रावक साहब क्या बहादुरी बतावेंगे । धीरे धीरे यह बात ठेठ रानी के कान तक पहुची । वह सुनकर बहुत सदिग्ध हुई परन्तु उस समय अन्य कोई विचार करने

का अवकाश नहीं था, इसलिये मावि के ऊपर आधार रखकर वह मौन रहीं। दूसरे दिन प्रातःकाल ही से युद्ध का प्रारभ हुआ। योग्य सधि पाकर दंडनायक आभूने इस शौर्य और चातुर्य से शत्रु पर आक्रमण किया कि जिससे क्षणभर में शत्रु के सैन्य का भारी सहार हो गया और उसके नायक ने अपने शस्त्र नीचे रखकर युद्ध बन्ध करने की प्रार्थना की। आभू का इस प्रकार विजय हुआ देख कर अणहिलपुरकी प्रजा में जय जय का आनन्द फैल गया। राणी ने बडे सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया और फिर बडा दरबार करके राजा और प्रजा की तरफ से उसे योग्य मान दिया गया। उस समय हँस कर राणी ने दडनायक से कहा कि—सेनाधिपति, जब युद्ध की व्यूह रचना करते करते बीच ही में आप—" एगिंदिया वेइंदिया " बोलने लग गये तब तो आपके सैनिकों को ही यह संदेह हो गया था कि, आपके जैसा धर्मशील और अहिंसा प्रिय पुरुष मुसलमानों जैसों के साथ लडने वाले इस क्रूर कार्य में कैसे धैर्य रख सकेगा। परन्तु आपकी इस वीरता को देखकर सबको आश्चर्य निमग्न होना पडा है। यह सुनकर कर्तव्यदक्ष उस दडनायक ने कहा कि—महाराणि, मेरा जो अहिंसाव्रत है. वह मेरी आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है। मैने जो " एगिंदिया बेइंदिया " के वध न करने का नियम लिया है वह अपने स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की रक्षा के लिये और राज्य की आज्ञा के लिये यदि मुझे वध कर्म की आवश्यकता पडे तो वैसा करना मेरा कर्तव्य है। मेरा शरीर यह राष्ट्र की सपत्ति है। इसलिये राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग होना ही चाहिए। शरीरस्थ आत्मा या मन मेरी निजी सपत्ति है उसे स्वार्थीय हिसाभाव से अलिप्त रखना यही मेरे अहिंसाव्रत का लक्षण है। इत्यादि इस ऐतिहासिक और रसिक उदाहरण से विज्ञ

पाठक भली भांति समझ सकेंग कि, जैन गृहस्थ के पालन योग्य अहिंसाव्रत का यथार्थ स्वरूप क्या है ।

सब–अहिंसा और उसके अधिकारी ।

जो मनुष्य अहिंसाव्रत का पूर्ण रूप से पालन करते हैं व यति मुनि भिक्षु श्रमण सन्यासी महाव्रती इत्यादि शब्दों से पुकारे जाते हैं। वे संसार के सब कामों से दूर और अलिप्त रहते हैं । उनका कर्तव्य केवल निज का आत्मकल्याण करना और जो मुमुक्षु उनके पास आवे उसको आत्मकल्याण का मार्ग बताना है । विषय विकार और कषायभाव से उनका आत्मा ऊपर रहता है। जगत् के सभी प्राणी उनके लिये आत्मवत् हैं । यह मैं और यह दूसरा, इस प्रकार का द्वैत भाव उनके हृदय में से नष्ट हो जाता है । उनके मन, वचन और कर्म तीनों एक रूप होते हैं । सुख दुःख या हर्ष शोक उनके मनमें एक ही स्वरूप दिखाई देते हैं । जो पुरुष इस प्रकार की स्वरूपावस्था को प्राप्त कर लेता है वही महाव्रती है, और उसीसे अहिंसा का सर्वांश पालन किया जा सकता है । ऐसे महाव्रती के लिये न स्व अर्थ हिंसा कर्तव्य है और परार्थ । वह स्थूल या सूक्ष्म सभी प्रकार की हिंसा से मुक्त रहता है ।

यहां पर यह एक प्रश्न होता है कि, क्या इस प्रकार के जो महाव्रती होते हैं व खाते पीते या चलते बैठते हैं कि नहीं ? । अगर वे वैसा करते हैं तो फिर वे अहिंसा का सर्वांश पालन करने वाले कैसे कहे जा सकते हैं ? क्योंकि खाने पीने या चलने बैठने में भी तो जीव हिंसा होती ही है ।

इसका समाधान यह है कि—यद्यपि यह बात सही है कि, उन महाव्रतियों से भी उन क्रियाओं के करने में सूक्ष्म प्रकार की जीवहिंसा होती रहती है, परन्तु उनकी उच्च मनोदशा के कारण उनको उस

हिंसा-जन्य पाप का स्पर्श बिलकुल नहीं होता और इस लिये उन का आत्मा इस पाप-बन्धनसे मुक्त ही रहता है। जब तक मनुष्य का आत्मा इस स्थुल शरीर में अधिष्ठाता होकर वास करता रहता है तब तक इस शरीर से वैसी सूक्ष्म हिंसा का होना अनिवार्य है। परन्तु उस हिंसा में आत्मा का किसी प्रकार का सकल्प-विकल्प न होने से वह उससे अलिप्त ही रहता है। महाव्रतियों के शरीर से होने वाली यह हिंसा द्रव्य हिंसा या स्वरूप-हिंसा कहलाती है; भाव-हिंसा या परमार्थ-हिंसा नही। क्योंकि इस हिंसा में आत्मा का कोई हिंसक-भाव नहीं है। हिंसा-जन्य पाप से वही आत्मा बद्ध होता है जो हिंसक-भाव से हिंसा करता है। जैनों के तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा का लक्षण बताते हुए यह लिखा है कि—

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'

अर्थात्—प्रमत्त भाव से जो प्राणियों के प्राण का नाश किया जाता है वह हिंसा है। प्रमत्तभाव का तात्पर्य है विषय-कषाय युक्त होकर, जो जीव विषय-कषाय के वश होकर किसी भी प्राणी को दुःख या कष्ट पहुचाता है वह हिंसा के पाप का बन्धन करता है। इस हिंसा की व्याप्ति केवल शरीर से कष्ट पहुंचाने तक ही नहीं है परतु वचन से वैसा उच्चारण और मन से वैसा चिन्तन करने तक है। जो विषय—कषाय के वश हो कर दूसरों के लिये अनीष्ट भाषण या अनीष्ट चिन्तन करता है वह भी भाव—हिंसा या परमार्थ—हिंसा करता है। और इसके विपरीत, जो विषय-कषाय से विरक्त है, उससे यदि कभी किसी प्रकार की हिंसा हो भी गई तो उसकी वह हिंसा परमार्थ से हिंसा नहीं है। एक व्यावहारिक उदाहरण से इसका स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जायगा।

एक पिता अपने पुत्र की या गुरु अपने शिष्य की किसी बुरी प्रवृत्ति से रुष्ट हो कर उसके कल्याण के लिये कठोर वचन से या शरीर से उसकी ताडना करता है, तो वह पिता या गुरु लोकदृष्टि में कोई निन्दनीय

या दण्डनीय नहीं समझा जाता। क्योंकि पिता या गुरु का वह व्यवहार द्वेष जन्य नहीं है। उस व्यवहार में सद्बुद्धि रही हुई है। इसके विपरीत जो कोई मनुष्य द्वेष वश होकर किसी मनुष्य को गाली गलोच या मारपीट करता है, तो वह राज्य या समाज की दृष्टि में दण्डनीय और निन्दनीय समझा जाता है। क्योंकि वैसा व्यवहार करने में उसका आशय दुष्ट है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के व्यवहारों का बाह्य स्वरूप समान ही है तथापि आशय भेद से उनके भीतरी रूप में बड़ा भेद है। इसी प्रकार का भेद द्रव्य और भाव हिंसादि के स्वरूप में समझना चाहिए।

वास्तव में हिंसा और अहिंसा का रहस्य मनुष्य की भावनाओं पर अवलम्बित है। किसी भी कर्म या कार्य के शुभाशुभ बन्धन का आधार कर्त्ता के मनोभाव ऊपर है। मनुष्य जिस भाव से जो कर्म करता है, उसी अनुसार उसे फल मिलता है। कर्म का शुभाशुभपना उसके स्वरूप में नहीं रहा हुआ है, किन्तु कर्त्ता के विचार में रहा हुआ है। जिस कर्म के करने में कर्त्ता का विचार शुभ है वह शुभ कर्म कहलाता है और जिस कर्म के करने में कर्त्ता का विचार अशुभ है वह अशुभ कर्म कहलाता है। एक डाक्टर किसी मनुष्य को नश्तरक्रिया करने के लिये जो क्लोरोफॉर्म सुंघा कर बेहोश बनाता है उसमें और एक चोर या खूनी किसी मनुष्य को धन या जीवित हरन करने के लिये जो क्लोरोफॉर्म सुंघा कर, बेहोश करता है उसमें कर्म की—क्रिया की दृष्टि से किंचित् भी फरक नहीं है। परन्तु फल की दृष्टि से जब देखा जाता है, तब डॉक्टर का तो यश सम्मान मिलता है और चोर या खूनी को भयंकर शिक्षा दी जाती है। यह उदाहरण जगत् की दृष्टि से हुआ। अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए, जो स्वयं मनुष्य की अन्तरात्मा की दृष्टि में अनुभूत होता है। एक पुरुष अपने शरीर से जिस

प्रकार अपनी स्त्री से आलिंगन करता है, उसी प्रकार वह अपनी माता बहिन या पुत्री से आलिंगन करता है। आलिंगन के बाह्य प्रकार में कुछ भेद न होने पर भी आलिंगन-कर्ता के आतरिक भावों में बडा भारी भेद अनुभूत होता है। पत्नी से आलिंगन करते हुए पुरुष का मन और शरीर जब मलिन विकारभाव से भरा होता है, तब माता आदि के साथ आलिंगन करने में मनुष्य का मन निर्मल और शुद्ध सात्त्विक—वत्सल—भाव से भरा होता है। कर्म के स्वरूप में किंचित् फरक न होने पर भी फल के स्वरूप में इतना विपर्यय क्यों है, इसका जब विचार किया जाता है, तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि, कर्म करने वाले के भाव में विपर्यय होने से फल के स्वरूप में विपर्यय है। इसी फल के परिणाम ऊपर से कर्ता के मनोभाव का अच्छा या बुरापन निर्णित किया जाता है; उसी मनोभाव के अनुसार कर्म का शुभाशुभ-पना माना जाता है। अत. इससे यह सिद्ध होगया कि धर्म-अधर्म—पुण्य—पाप—सुकृत-दुष्कृत का मूलभूत केवल मन ही है। भागवतधर्म के नारद पचरात्र नामक ग्रथ में एक जगह कहा गया है कि—

मानस प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम् ।
मनोऽरूप वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुट मन. ॥

अर्थात् प्राणियों के सर्व कर्मों का मूल एक मात्र मन ही है। मन के अनुरूप ही मनुष्य की वचन (आदि) प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से उसका मन प्रकट होता है।

इस प्रकार सब कर्मों में मन ही की प्रधानता है। इस लिये आत्मिक विकास में सबसे प्रथम मन को शुद्ध और संयत बनाने की आवश्यकता है। जिसका मन इस प्रकार शुद्ध और संयत होता है वह फिर किसी प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता। यद्यपि जब तक आत्मा देह को

धारण किये हुए हैं, तब तक उनसे कर्म का सर्वथा त्याग किया जाना असम्भव है। क्योंकि गीता का कथन है कि—

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

तथापि—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

इस गीतोक्त कथनानुसार—जो योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय और सब भूतों में आत्मबुद्धि रखनेवाला पुरुष है, वह कर्म करके भी उनसे अलिप्त रहता है।

ऊपर के इस सिद्धान्त से पाठकों की समझ में अब यह अच्छी तरह आजायगा कि, जो सर्वसंगी–पूर्णत्यागी मनुष्य हैं उनसे जो कुछ सूक्ष्म कायिक हिंसा होती है उसका फल उनको क्यों नहीं मिलता। इसीलिये कि, उनसे होने वाली हिंसा में उनका भाव हिंसक नहीं है। और बिना हिंसक–भाव से हुई हिंसा, नहीं कही जाती। इसलिये आवश्यक महाभाष्य नामक मान्य जैन ग्रंथ में कहा है कि—

असुहपरिणामहेऊ जीवाबाहो त्ति तो मयं हिंसा।
जस्स उ न सो निमित्तं संतो वि न तस्स सा हिंसा॥

अर्थात् किसी जीव का वध व्यापार में जो अशुभ परिणाम निमित्त भूत है तो वह हिंसा है, और ऊपर से हिंसा मालूम देने पर भी जिस में वह अशुभ परिणाम निमित्त नहीं है, वह हिंसा नहीं कहलाती। यही बात एक और ग्रंथ में इस प्रकार कही हुई है—

जं न हु भणिओ बंधो जीवस्स वहेऽवि समिइगुत्ताणं।
भावो तत्थ पमाणं न पमाणं कायवावारो॥
(धर्मरत्न मञ्जूषा पृ ८१६)

अर्थात् समिति–गुप्तियुक्त महात्माओं से किसी जीव का वध हो जाने

पर भी उसका उनको बन्ध नहीं होता क्योंकि बन्ध में मानसिक भाव ही कारणभूत है—कायिक व्यापार नहीं। यही बात भगवद्गीता में भी कही हुई है। यथा —

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

अर्थात् जिसके हृदय में से 'अहभाव' नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि अलिप्त रहती है वह पुरुष कदाचित् लोकदृष्टि से लोगों को—प्राणियों को मारने वाला दीखने पर भी न वह उनको मारता है, और न उस कर्म से बद्ध होता है।

इसके विपरीत जिसका मन शुद्ध और सयत नहीं है—जो विषय और कषाय से लिप्त है वह बाह्य स्वरूप से अहिंसक दीखने पर भी तत्त्व से वह हिंसक ही है। उसके लिये स्पष्ट कहा गया है कि—

अहणतो वि हिंसो दुट्ठत्तणओ मओ अहिमरोव्व।

जिसका मन दुष्ट—भावों से भरा होता है वह किसीको नहीं मारकर भी हिंसक ही है। इस प्रकार जैनधर्म की अहिंसा का सक्षिप्त स्वरूप है।

(महावीरसे उधृत)

सातक्षेत्र.

क्षेत्रेषु सप्तस्वपि पुण्यवृद्धये, वपेद्धनं सम्प्रतिराजवद्धनी।
कृषीवलं केवलशालितंदुलान्, वपेत्स किं योऽखिलसस्य लालसः॥ १॥

अर्थ—धनपात्र मनुष्यको चाहिये, कि संप्रति नरेश, की तरह पुण्यकी वृद्धिकी इच्छासे अर्थात् धर्मकी पुष्टिके लिये सात क्षेत्रोंमें धन व्यय करे, इस पर यह तर्क हो सकती है कि खेती करने वाला (कृषक) क्या चावल ही बीजता है?

नहीं नहीं सर्वही प्रकारके धान्योंको बीजता है। दृष्टान्तके तौर पर

किसी नगरमें कोइ एक कोटिध्वज शाहुकार रहता था, उसन अपने अंत समयमें गामके चार प्रतिष्ठित पुरुषोंको बुलाकर अपनी सपूण सपत्ति देदी और कहा कि तुमको विश्वास पात्र समझ कर आपना पूजा देता हू। तत्पश्चात् मैं अपने अभीष्टको आप लोगोंके समश्न प्रकाशित करता हू, कि मेरे सात पुत्र हैं। और उनके पालन पोषण के निमित्त उपर्युक्त पूजी तुम्हारे अधिकारमें अर्पण की जाती है, तुमको सवथा उचित है कि मरी सम्पत्तिका अउचित रीतिसे दुरुपयोग न करें, केवल इस सचित पूजी को मेरे प्रिय अगजो के पालन पोषण में ही व्यय करक उनको सदाके लिये हयात और आबाद रक्खें।

[उपनय घटना] ससार यह एक तरहका नगर है, वीर परमात्मा शाहुकार हैं। उन्होंने अपने निर्वाण के समय अपनी ज्ञान दर्शन चारित्र रूप अनत सम्पत्ति श्रीसघको सुपुर्द करके कहा कि हमारे बताये हुये अर्थात् हमारे स्थापन [कायम] किय हुय जिनाबिम्ब १ जिनचैत्य २ सम्यग् ज्ञान ३ साधु ४ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका ७ इन सात क्षेत्ररूप पुत्रोंका तुम सदा पालन, पोषण, रक्षण और निरीक्षणा करना, इन सात ही क्षेत्रोंका समान दृष्टिसे बचाव करना। इन सात क्षेत्रोंको मेरे निज पुत्र समझ कर समान भावसे पालना, और उत्पात, उपद्रवोंसे रक्षा करते रहना। गुणकारी, उपकारी, सहायक सामग्रीसे इन्हें उपचित करना। आशय यह है कि इनमेंसे किसीको भी न्यूनाधिक समझ कर बिलकुल घटाना बढाना नहीं, किंतु पर भी भावकी न्यूनाधिकता न रखते हुये, सबको मेरे ही शरीरके अगभूत मानना। » इससे हमारा यह आशय नहीं कि देव द्रव्य ज्ञान द्रव्य साधु साध्वी, या श्रावक श्राविका खाजावें!! ऐसा होना तीर्थंकर गणधरों की आज्ञासे साफ विरुद्ध है। हमारा आशय यह है कि हिन्दुस्थानमें आजकल ३६ हजार जिनमदिर गिने जाते हैं। हरएक समझदार समझ सकता है कि—

जिनप्रतिमाकी पूजा में धूप–दीप–चंदन–बरास–वास–वाला–कुची–अंगलुहना–पंचामृत–कलस–थाल रकेबी चामर चद्रवा–पूठिया चौकी—पानी–पूजारी–आदि अनेक वस्तुयें चाहिये, यह संसारभरके जैन जानते हैं। आक और धतूरेसे जिनप्रतिमा कही नहीं पूजी जाती। ३६ हजार मंदिरों की पूजाके लिये कमतीमें कमती प्रति मंदिर १०० रुपया सालाना भी गिना जाय तो भी हिसाब गिननेसे ३६ लाख रुपया वार्षिक खर्च मंदिरोंका आता है यह कार्य जैन समाजकी भक्तिसे उनकी उत्कृष्ट भावना से सहर्ष हो रहा है, तथापि प्रतिवर्ष नये मंदिरोंकी टिप्पणियाँ तडा मार उपराउपरी आ रही हैं, इससे अधिक लाभ क्या सो हमारी समझमें नहीं आता। जहाँ १० घरोंकी जैनवस्ति है वहाँ ५००० हजारके खर्चसे मंदिर बनवाया जाता है। उस कार्यमें अनेक गामोंको दाक्षिण्यतासे कहने कहानेसे साधुओंकी सिफार-शोंके कारण शक्तिकेन होने पर भी पैसा देना पडता है। इसके बदले जिस गाममें एक जिनमंदिर है वहा उसीकी सेवाभक्ति नहीं होती तो दूसरा क्यों बनवाया जाता होगा ? जो रुपया उस दूसरे मंदिरमें खर्च करना है वह उन पहले मंदिरके निर्वाहके लिये जमा करके उसके व्याज वगैरहसे मूलमंदिरकी आशातना का परिहार क्यों न कराया जाय ? हमने गतवर्ष अनुभव करके देखा कि एक गाममें दो मंदिर हैं वहा प्रतिदिन १० आदमी भी पूजा नहीं करते होंगे इतनेमें वहां दो तीन और बन रहे हैं। सुना गया है कि उन मंदिरोंके तयार होनेमें करीब १ १॥ लाख रुपया खर्च होगा ऐसी हालतमें इन्साफ की दृष्टिसे देखा जाय तो श्रावक श्राविका रूप दोनों क्षेत्रोंकी कैसी हालत होरही है उधर कोई ख्याल देता है ? अगर श्रावक श्राविका ही नहीं रहेंगे तो उन तुम्हारे बनवाए मंदिरोंको पूजेगा कौन ?

दूसरे धर्मों तर्फ दृष्टिपात करते हैं तो साफ तौर पर मालूम होता है

कि जो लोग आजसे २० वर्ष पहले हजारोंकी संख्यामें थे वह आज लाखोंकी संख्यामें आगये और जैन प्रजा करोडोंकी संख्यामेंसे लाखोंमें आगई। अब यह भी सोचनेका विषय है कि जिस धर्ममें विद्या नहीं, जिसमें ऐक्य नहीं जिसमें कोई नायक नहीं, जिसका ज्ञानका मार्ग रुक चुका है और जाना हमेशा जारी है उस धर्मकी, उस समाज या—संप्रदायकी बढती चढती कैसे हो सकती है ? बढती की तो बात ही दूर किनारे रखो मूर्तिपूजाकी ही क्षति होरही है

शहर सूरतमें व्याख्यान देता हुए विदुषी एनीबेसेन्टने कहा था कि— "यद्यपि जैनधर्म पवित्र और प्राचीन है तथापि आज कलकी उसकी छिन्नभिन्न दशाको देख कर बुद्धिबलसे मालूम देता है कि यह धर्म १०० वर्षसे ज्यादा दुनियामें नहीं टिकेगा" आज हम उस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। दस वर्ष पहले जो मर्दुमशुमारी हुई थी उस वक्तमें और आज की संख्यामें १००००० आदमी की कमी हुई है। ४०००० मनुष्य सिर्फ गुजरात प्रान्तमेंसे घटे हैं। इस अवस्थामें तो सबसे पहले श्रावक श्राविका रूप क्षेत्रकी सार संभाल करनी चाहिये।

॥ जिनबिम्ब ॥

"बिम्बम् महल्लघु च कारितमत्र विद्युन्माल्यादिवत् परमवेऽपि शुभाय जैनम्। ध्यातुर्गुणाम्बुरपि दीपितमानिनश्चमाग्रेयाभवि धनविनाशिने न किं स्यात्॥२॥

इस श्लोकमें कहा या बडा एक भी जिन बिम्ब कराया होय, तो यह विद्युन्माली देवताकी जैसे के प्राणीको कारण हुआ वैसे भव्य मात्माओं को हो सकता है। प्रसिद्ध बात है कि बडा इष्टफल देनेवाला मंत्र ध्यान करनेवालेके दरिद्र को दूर नहीं करता अर्थात् करता है।

(विशेष विवेचन)

संसारके प्रत्येक ग्राम, नगर या जनपदमें दर्शनार्थ सभी मिल सकती

है कि कोई किसी प्रकारसे और कोई किसी प्रकारसे परन्तु ससार की पटडी पर मनुष्यमात्र, सम्प्रदायमात्र, मूर्तिपूजक, बुतपरस्त हैं। जो लोग बाहिरी तौरसे बुतपरस्ती को बुरा भी समझते हैं उनके घरों में उनकी सामाजिक सस्थाओं में उनके धार्मिकग्रन्थों पर, उनके पूज्यगुरुओंकी मूर्तियां दीख पडती हैं। दृष्टान्तके तौर पर समझिये, कि आर्यसमाज लोग मूर्तिपूजाके कट्टर विरोधी हैं; परन्तु उनके विद्यालयोंमें, उपदेशभवनोंमें "स्वामी दयानन्दजीके" फोटो भीतों पर लटकाए हुए मिलते है। वह लोग व्याख्यान देते समय बडे आदरभावसे, पूज्यबुद्धिसे हाथ लम्बा लम्बा कर बताते हैं, कि यह "सत्यधर्मके प्रचारक" यह मिथ्याडंबरोंके निवारक यह "ससारके उद्धारक" स्वामी दयानन्दसरस्वती अपने बनाये हुए अमुक ग्रन्थके अमुक पृष्ठ पर यह बात लिखते हैं।"

अब समझना चाहिये कि जिस मूर्तिके सामने हाथ लम्बाया जाता है, जिसे स्वामीजीके इशारेसे बताया जाता है, वह क्या स्वामीजीकी देह है? क्या वह स्वामीजीका वजूद है? क्या उसमें स्वामीजीकी आत्मा विराजमान है? उससे किसी किसमकी स्वामीजीकी गरज सर सकती है? नहीं किसी तरह भी नहीं इसी। प्रकार संसारके सम्पूर्ण सम्प्रदायोंमें किसी न किसीरूप मूर्तियोंका मानना सिद्ध है। जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव स भी प्राचीन समयसे मूर्तियोंके पूजक है। उसमें विशेष कर जैनधर्म में मूर्तिपूजा बडे आदर सत्कारसे की जाती है। परन्तु इतना तो अवश्य कहना पडेगा कि जैनसम्प्रदाय मूर्तिको मूर्तिमान व र पत्थरके पुतले मानकर नहीं पुजता किन्तु वह जिस देव या गुरु की मूर्ति है उसकी अनुपस्थितिमें उसको उस मूर्तिके द्वारा स्मर्ण करके उसमूर्तिवालेके गुणोंको पूजता है। न कि सामने दिखाई देते उस बुतको। उस मूर्तिके द्वारा मूर्तिवाले महात्माकी जीवन चर्य्याको स्मर्ण करके उन अतीतकालकी घटनाओंको हृदयमें स्थान देकर

चाहिये उस भावनाके सूचक दोहे प्रायः सर्वत्र जैन संप्रदायमें प्रसिद्ध हैं।
जैसे कि—

जलभरी संपुटपत्रमें, युगलिक नर पूजन्त ।
ऋषभ चरण अंगूठडो, दायक भवजलअंत ॥ १ ॥
जानुबले काउसग रह्या, विचर्या देशविदेश ।
खडे खडे केवल लह्यो, पूजो जानुनरेश ॥ २ ॥

इत्यादि परंतु बहुत लोग पूजाके समय इन दोहोंको बडे ऊंचे आवाजसे गाते हैं, ऐसा होना अनुचित है। पूजा मौनसे ही होनी चाहिये। जैनदर्शनमें श्रद्धाबुद्धिसे जिनबिम्ब तयार करानेवाले के लिये प्रबल पुण्यका होना माना गया है, जैसे कि—

" अंगुष्टमानमपि यः प्रकरोति बिम्बम्, वीरावसानवृषभादिजिनेश्वराणां।
स्वर्गे प्रधानविपुलर्द्धिसुखानि भुक्त्वा, पश्चादनुत्तरगतिं समुपैति धीरः ॥३॥"

जो धर्मधीर मनुष्य श्रीऋषभदेवसे लेकर श्रीमहावीर स्वामीपर्यंत २४ तीर्थंकरदेवोंकी अंगुष्ठ जितनी भी प्रतिमा बनवाता है वह स्वर्गमें असंख्य सुखभोग कर पीछेसे मोक्षसुखका भागी होता है।

भरतचक्रवर्तीने वज्रमयी अपनी अंगूठीमें हीरेकी प्रतिमा रखाई थी गुजरातके प्रख्यात नरेश भीमदेवके प्रधानमन्त्री विमलकुमार भी अपनी मुद्रिकामें जिनप्रतिमा रखकर राजदरबारमें जाया करते थे। मथुरा नगरी में जिस समय जैनधर्मका सर्वतो उत्कर्ष था, उस समय वहांके लोग अपने घरोंके दरवाजों पर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना किया करते थे। कहा तक कहा जाय ? देवता लोग जब देवभूमि (स्वर्ग) में पैदा होते है पहिले ही जिनप्रतिमाकी वन्दना पूजना करते है। सम्प्रतिनरेश जो कि चन्द्रगुप्त राजाके वंशज अशोकश्रीके पौत्र थे, उन्होंने सवा लक्ष जिनप्रतिमायें बनवाई थीं जिनमें से आज भी कई एक उस समयकी प्रतिमायें भारतवर्ष के अन्यान्य प्राचीन स्थानोंमें से निकलती नजर आती हैं। जैसे अस्ट्रि
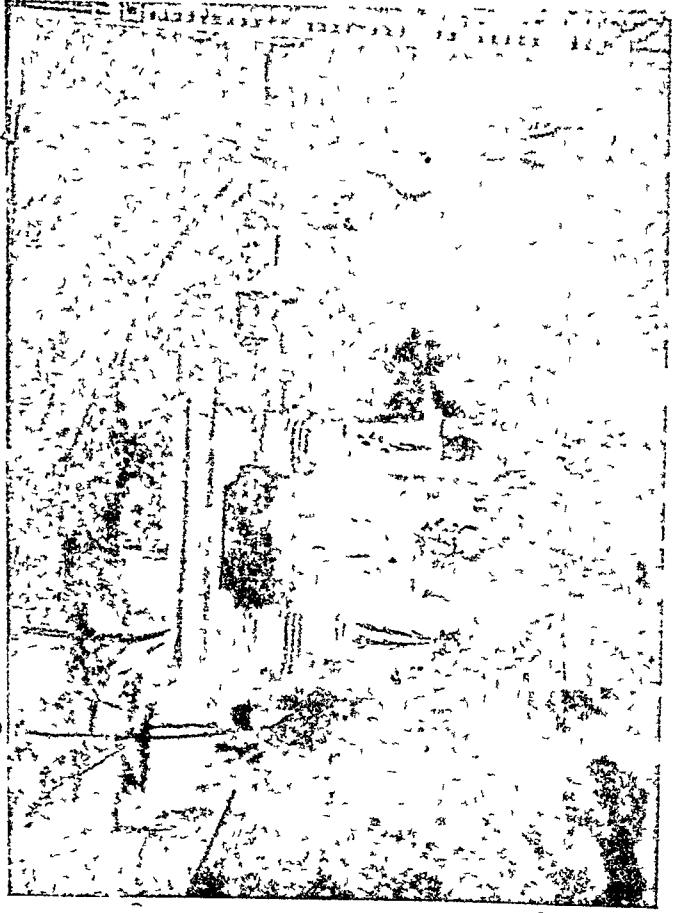
अष्ट्रीयाके अन्तर्गत हंगरी प्रान्तके बुडापेस्त शहरमें एक अंग्रेजके बगीचेमें खोदते हुये निकली हुई महावीरकी प्रतिमा.

देशमे हर्गीमतके " बुदापेस्त " शहरमें श्रीमन्महावीरस्वामीकी प्रतिमा निकली है [इसके विशेषवर्णनके लिये मेरा लिखी " गिरिनार ग्रन्थ" और ' सम्प्रतिराजा " नामक पुस्तकोंका देखना जरूरी है]

मूर्तिपूजकोंकी सख्या	मूर्तिनिषेधकोंका सख्या
बौद्ध ५८०००००००	याहुदी १२२०००००
केथोलिक १००००००००	प्रोटस्टंट १७१६०००००
ग्रीक १००००००००	पारसी १००००००
हिंदु २१६७०००००	मुसलमान २२१८०००००
जैन १००००००	ढुंढकजैन ३०००००
एनिमिष्ट १५०२०००००	ब्रह्मप्रार्थनासमाज ५५००

सिख लोग भी गुरुओंकी मूर्तिका पूजा करते हैं।

कुछ वर्ष पहिले एक महानुभावने सरस्वतीमें " भारतका मूर्ति कारी गरा " इस विषय पर लेख लिखकर बहुतसी नवीन ज्ञानजनक बातो का दिग्दर्शन कराया था। उनके कुछ सरल सरल और उपयोगी वाक्योंका यहाँ उद्धृत किया जाता है। 'भारतवर्षकी प्राचीन शिल्पकला धर्म ' भम से सबन्ध रहा है। प्राचीन भारतके चित्रकार तथा मूर्तिकार अपनी २ विद्या तथा कलाकौशल्यका उपयोग ससारको साधारण वस्तुओंके सबधमें न करते थे। भारतीय चित्रकार तथा मूर्तिकारोंका उद्देश देवताओंके चित्र तथा मूर्ति बनाना है। प्रायः भारतवर्षका जितनी मूर्तियां अभी तक मिली हैं, प्राय सबकी सब या तो किसी देवता या महापुरुषकी हैं। या धर्मसबधी घटनाओंके आधार पर बनाई गई है। भारतवर्षमें प्राचीन मूर्तियोंके ' इतिहास ' का आरभ अशोक के समयसे हुआ था, और अन्त मुसल्मानोंके समयसे हुआ हो, ऐसा अनुमान तथा सिद्ध है।

अर्थात् इसाके लगभग .... लेकर इसाके बाद बारहवीं

शताब्दीके बाद तकका प्राचीन भारतीय मूर्तिकारी का इतिहास हमें मिलता है। कोई भी मूर्ति, या पत्थरकी कारीगरी जो अभी तक मिली है अशोकके पहिलेकी नहीं है। भारतवर्षकी प्राचीन मूर्तियें समयके अनुसार चार भागोंमें बाँटी गई हैं (१) मौर्यकाल ईसाके पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईसाके पूर्व पहिली शताब्दी तक,

(२) 'कुषानकाल' ईसाके बाद पहिली शताब्दीसे तीसरी (स) स्वदेशी कुषान मूर्तिकारी

(३) 'गुप्तकाल'—ईसाके बाद तीसरी शताब्दीसे छठी शताब्दी तक (४) 'मध्यकाल'—ईसाके बाद सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक

इस परामर्शमें जैनधर्म किसी अंशमें अपना निराला मन्तव्य रखता है, और यह मन्तव्य बुद्धिवादसे और ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सत्य मालूम होता है। या तो श्रीमन्महावीरदेवके फैलाये साम्यवादको जबसे एक महात्माने पुनरुज्जीवित किया है, तबसे शत्रुकी मान्यता पर भी घृणा पैदा करनी बुरी मालूम देती है। हाँ मध्यस्थभावसे यथार्थ तत्त्व समजाना अपना कर्तव्य है। तथापि " युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः " यह नीति सभी के लिये प्रशस्त है, और सत्य कहना यह महात्माके सत्य साम्राज्यका भूषण है। यहा एक ही बात कह देनी उचित मालूम देती है, कि ससारमें ईश्वरवादी महाशय परमात्माके अवतार मानते ही है, तो जब वह अवतार धर्मका उद्धार करके अतरित हो जाते हैं तब उनके ऋणी जीवात्मा उनकी मूर्तिया क्यों न बनाते होंगे? जैनसपदायमें तो मूर्तिका रहना असख्यवर्षों तक फरमाया है। अर्थात् मूर्ति असख्यवर्षों तक रह सकती है। इतना ही नहीं बल्कि इसके अनेक दृष्टान्त भी उपस्थित है। गुजरातमें पाटणके समीप चारुप ग्राममें पार्श्वनाथस्वामी, की प्रतिमा है, वह असख्यवर्षोंकी बनी

हुइ है । एसे हा " राधनपुर " कैंपास ' शलेश्वर ' ग्राममे शलेश्वरपार्श्वनाथ की मूर्ति ह, जो आजस असख्य वष पहिल्की हुइ मानी जाती है । श्रवणबलगुळके इतिहासोंस पता लगता है कि वहांका राज्य जैनधर्म की चिरकालसे उपासना करता था । जैनधमके उपदेशकोका परिचय न रहनसे वहांके किसी एक राजाने जैनधमका त्याग कर अन्यधमका पालन करना शुरू कर दिया, और जो जो जिनचैत्योंके रक्षणके लिये पूर्वराजाओंका ओरस नागारें भेट की हुइ थीं, वह भी उसने जप्त कर ली । दैवयोग वहां भूकम्प हुआ, बहुतसे गामोंकी बडी हानी होगई । इससे राजाके मनमें शका उत्पन्न हुइ कि मैने चिरपालित जैनधमको छोड दिया है इसी कारण मेरे राज्यकी दुदशा हुइ है । वह फिर वीरवचनोंका भक्त होकर जिनधमकी उपासना करने लगा, और स्वाधीन की हुइ सपत्ति भी जिनचैत्योंका भेट कर दी । इस बातके विशेष ज्ञानके लिये " सनातन जैन पुस्तकका अक तीसरा " देखो । इससे इतना ही आशय लेनेकी आवश्यकता है, कि पूर्वकाल में जैनधर्म राष्ट्रीय धम था । राजा तथा प्रजा सभी इसके अनुयायी थे । राजा ' शिवप्रसाद सितारेहिन्द ' ने जैन न हो कर भी अपने निर्माण किये हुये " भूगोलहस्तामलक " में लिखा है कि दो हजार वष पहिले दुनियां का अधिक भाग जैनधमका उपासक था ।

जिनचैत्य (जिनमदिर).

" रम्य येन जिनालय निजभुजोपात्तेन कारापित,
मोक्षार्थ स्वधनेन शुद्धमनमा पुसा सदाचारिणा ।
वेद्य तेन नरामरेन्द्रमहित तीर्थंकराणां पदम्,
प्राप्त जन्मफल कृत जिनमत गोत्र समुद्योतित ॥

अर्थ—जिस शुद्धमनवाले सदाचारी मध्यात्मान अपने हाथके कमाये

हुए धनसे आत्मकल्याणके निमित्त जिन मंदिर बनवाया है, उसने संसारमें सारभूत तीर्थंकर पद प्राप्त किया माना जाता है। उसने अपने जन्मका फल प्राप्त कर लिया, और अपने गोत्रको परम पवित्र करनेके साथ जिनशासनको उन्नतिके शिखर पर पहुंचाया।

विशेष वर्णन।

अपने रहने बैठनेके लिये मकान, माले, आलने, घोंसले, कौवे, चिडियें, शुक, तीतर इत्यादि पक्षि लोग भी बना लेते हैं। मनुष्य तो सर्वोत्कृष्ट शक्ति और ज्ञान संपन्न माना जाता है यदि वह अपने निवासका स्थान बना ले, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु भाग्यवान वही माना जाता है कि जो अपनी शक्तिके अनुसार "जिनचैत्य" निर्माण कराके न्यायोपार्जित लक्ष्मीको सफल करे। आचार्य श्री बप्पभट्टि सूरिजीने गवालियरके आम राजा पर महान उपकार किया था। अतएव राजा पुन. पुनः उनकी भावभक्ति करनेमें तत्पर रहता था, बल्कि बप्पभट्टि सूरिजीकी सूरिपद प्रतिष्ठाके समयमें भी, भूपति स्वयं उपस्थित हुआ था। और जैनश्रीसंघमें आगेवान बनकर अपने कोषमेंसे एक करोड सोनामोहरा खर्च कर उसने वि. सं. ८११ में आचार्य महाराजका पदमहोत्सव किया था।

एक समय सूरीजी महाराजने गवालियर नगरकी तर्फ प्रस्थान किया, और वहा जाकर राजाको उपदेश देना आरंभ किया, उपदेश देते समय सूरिजीने यह कहा कि—

श्रीरियं पुरुषान् प्रायः कुरुते निजकिंकरान्।
कुर्वते किंकरी तां ये तैरसौ रत्नसू रसा ॥ १ ॥

अर्थ—विशेषकर लक्ष्मी ने मनुष्योंको अपना किंकर तो बना ही रखा है, लक्ष्मी के मदसे मोहित होकर मनुष्य अपने कर्तव्योंसे परांन्मुख तो हो ही रहा है। तथापि जिन पुण्यात्माओंने, उसको अपने

आदेशमें चलाया है, अर्थात् जिसने लक्ष्मीका अपनी इच्छानुकूल व्यय किया है, उसीसे यह पृथ्वी रत्नप्रसू कही जाती है।

इस उपदेशको सुन कर राजाने साढ तीनमाड सोनामोहरें गलवा कर स्वणकी अनेक प्रतिमाय बनवाइ और उस विशाल मन्दिर, कि जिसमें वह प्रतिमायें स्थापन की गइ थीं, का रगमडप बनानमें २१ लाख सोना मोहरे व्यय कीं और सवा लाख सोनैय खर्च क के उन्होंने मूल मडप का रिपेर काम कराया। आचाय महोदयके उपदशस राजाने शत्रुजय गिरिनारक मन्दिरोंका जीर्णोद्धार भी कराया(देखो उपदेश तरगिणी)कलिकालकसर्वज्ञश्रीहेमच द्रसूरिजीक उपदेश स िन रम मात्त कोकेचौलक्य कुल दीपकमहाराजकुमारपालदेवन तारगाजी और खभात प्रमुख स्थानोंमें १००० नवीन जिनमदिर बनवाये थ। अपने पिता त्रिभुवनपालणके नामस पाटणमें उन्होन "त्रिभुवनपालविहार" नामक (पुर) बहत्तर देव कुलिका सहित विशाल मदिर बनायाया था। उस परमाहत न२४सोनेकी२४रत्नकी,चौबीस पीतलकी इत्यादि अनकानेक जिनप्रतिमा बनवाकर उस महा मन्दिरमें स्थापन कीथीं १२५ अगुलप्रमाण अरिष्ठरत्नकीप्रतिमा श्रीनेमिनाथ स्वामीकी बनवाकर मूलनायक पन स्थापन की थी। इस मन्दिरक बनवान में द काइअशर्फियाँ खर्चकर पुण्याधिक भूपालने जिन शासनकी और अपन पूज्य पिताकी प्रभूत सेवा बजाई थी। उस मन्दिरमें उदयन, आम्रदेव, कुमारदेव, अभय कुमार और वाहडदेव आदि अठारह मुख्य मुख्य सभापति श्रावक गीतगान नृत्य अ दे ठाट पूवक नित्यधर्म क्रिया किया करत थे। इस मदिर को कुमार पालके उत्तराधिकारी अजयपाल ने नष्ट क दिया था, इस मदिर की नीवमें से जो पाषाण की विशाल शिला निकली है उन्हें हमन अपनी नजरस देखा है वे सब "गायकवाड" सरकारक स्वाधीन ह वरन् उनशिलाओंस अनक मदिर तयार, हो सकत थ।

उपदेश तरंगीणीमें लिखाहै, कि सम्प्रतिराजा सौनलक्ष मदरनैशका वि-

जय करके सोलह हजार मुकुटबन्धराजाओं को अपनी आणा मना कर उन सर्व भूपतियोंसे परिवृत हो कर उज्जयणीमें आया, तब लोगोंने बडे आडम्बर पूर्वक उसका प्रवेशोत्सव कराया। सर्व राजा प्रजाको यथोचित प्रीति दान देकर सबके उतारों की व्यवस्था कर अब अपनी पूज्य माताको प्रणाम करने गया तब माताने उसके आनेपर किसी भी प्रकारका हर्ष प्रकट न किया। सम्प्रति ने फिरसे नमस्कार कर के पूछा, पूज्य माता आधे भरत क्षेत्र को स्वाधीन करके मैं कई वर्षोंसे तुम्हारे चरणोंमें आया हूँ तथापि तुम्हारे चेहरे पर जैसी चाहिये वैसी खुशी न देख कर मु मेरे किसी अपराधकी आशंका होती है। परन्तु वारम्वार स्मरण करनेपर भी मुझे मेरा कोई दोष याद न आनेसे हृदय वडा व्याकुल हो रहा है। अगर अज्ञानता से जो कोई दोष मुझसे हुआ हो तो आप पुत्रवत्सला हो मुझे क्षमा प्रदान करो। माताने गंभीर स्वरसे जवाव दिया, पुत्र आज तू संसारमें पूरा पुण्यवान है। तेरी भाग्यरेखा प्रतिदिन चढती है, तेरी कीर्ति यह मेरी ही कीर्ति है, परन्तु " नरकान्तमम् राज्यम् स्मृतम् " इस वाक्यको भूल कर तेरा मन आरंभमें मशगूल है यह मेरी उदासीका कारण है। अगर तूं दिग्विजय के क्षेत्रोंमें प्रतिग्राम प्रति नगर एक २ चैत्य भी बधाता रहता तोभी तेरा आरंभजन्य पाप अल्प होता रहता, और मुझे तेरा मुख देख कर खुशी भी होती। इस वातको सुनकर राजाने निमित्तियोंको बुलाकर पूछा मेरा आयु कितने वर्षोंका है? निमितियोंने राजाका आयु १०० वर्षका वतलाया। राजाने आज्ञा दी कि १०० वर्षके ३६००० दिन होते है, मेरे आयुके दिनों जितने जिन चैत्य मेरे राज्यमें तैयार होने चाहिये।

मंत्रियोंने वैसा ही करना शुरू किया। प्रसिद्ध है कि—कमसे कम एक मन्दिर रोज नवीन तैयार कराके राजा अपनी माताके चरणोंमें बन्दना किया करता था, और नया समाचार दे कर उनके आदेशका पालन

किया करता था। लिखा भी है कि "मवन्तिहि महात्मानो गुवाशा-भगमीरव"।

सोलहवीं शताब्दीमें रत्नमण्डणगणिने 'उपदेशतरंगिणी' नामक ग्रंथ बनाया है वह अपने सत्तासमयमें लिखते हैं कि वर्तमान समयमें भी सिन्धुदेशके मरोठपुरमें सम्प्रति राजाकी बनवाई ८५ हजार पीतल की प्रतिमायें मौजूद हैं।

तपगच्छनायक श्री धर्मघोषसूरिजी के उपदेशसे पेथडशाह और उनके लडके झांझण शाहने विक्रम संवत् १३२१ में "जीरावला" पार्श्वनाथ "शत्रुंजयगिरि" वगरहतीर्थोंपर (८६) जिनमंदिर बनवा येथे, और उन सब मंदिरोंके शिखरों पर सोनेके कलस चढ़ाये थे। इतना ही नहीं बल्कि-"दौलताबाद" "ओंकारपुर" वगैरह नगरोंमें अन्य-दर्शनानुयायी लोग धर्मद्वेषके कारण मंदिर नहीं बनाने देते थे, पेथड शाह समझते थे कि इन इन स्थानोंमें मंदिरोंका होना खास लाभका कारण है। इस लिये उन्होंने खुद वहां जाकर उन ग्राम नगरोंके राजाओंके मंत्रियोंके नामसे दानशालाएँ जारी करदी, यथेच्छ खान पान मिलनसे देश देशान्तरके याचक लोग मंत्रिओंका यश गाने लगे। मन्त्रियोंने सोचा कि हमने तो किसीको कुछ दिया नहीं। यह सब याचक हमारी कीर्ति गा रहे हैं इसमें कोई खास कारण होना चाहिये। दर्याफ्त करने पर मालूम हुआ कि "मांडवगढ" का राजमान्य पेथडशाह मंत्री यहां आया हुआ है, उसने अपनी सज्जनतासे हमको यशस्वी बना दिया है। इस लिये हमको भी चाहिये कि उस सुयोग्यकी योग्यताके अनुसार उसे इच्छित देकर सन्मानित करना, और अपने शिरचढे हुए ऋणको उतारना। यह सोचकर उन्होंने बड़ी प्रतिष्ठापूर्वक पेथडशाहको अपने पास बुलाया। बहुत कुछ मानसन्मान देकर कहा "आप जैसे धर्ममूर्ति-पुन्यात्माओंका हमारे यहां आना

ही असीम उपकारका कारण है, तो फिर हमारे नामकी दानशालाएँ खोल कर निष्कारण यश और कीर्तिके भागी बनाकर आप हमको अति ऋणी क्यो बना रहे है ? भला हम इस आपके उपकाररूप बोझेको कैसे उतार सकेंगे ? संसारमे उपकारके बदलेमे प्रत्युपकारके करनेवाले तो जगह २ सुलभ है परंतु विना ही प्रार्थनाके किये परका हित करनेवाले और उसमें भी कीर्ति अन्यको दिलानेवाले मनुष्य अव्वलतो जगत्‌मे हैं ही नही, और हैं भी तो कोई आप जैसे विरले ! ! ! धन्य है अपके जन्म और जीवितको !

" आत्मार्थे जीवलोकेऽस्मिन्, को न जीवति मानवः ? ।
" परं परोपकारार्थं, यो जीवति स जीवति ॥ १ ॥
" परोपकारशून्यस्य, धिग्मनुष्यस्य जीवितम् ॥
" जीवंतु पशवो येषां, चर्माण्युपकरिष्यति ॥ २ ॥

अपनी जीवन वृत्ति के निर्वाहके लिये जीवमात्र अनेकानेक उपाय कर रहे हैं, कोई सीता है, कोई पढता है, कोई बुनता है, कोई तनता है, कोई खरीदता है, कोई बेचता है, एक दाता है, अन्य ग्राहक है, किसीकी किसीकी वाणिज्यसें, अनेकोंकी जलसे, अनेकोकी इंधनसें, क्षेत्रसे, कईयोंकी वास्तिसे, कईयोंकी वनसे, आजीविका चल रही है । जोहरी जवाहरात के, बजाज बजाजीके, शराफ शराफीके, परीक्षक परीक्षाके, दलाल दलालीके, एवं अदनासे अदना और बडेसे बडा जीवमात्र अपनी अपनी क्रियासे आजीविका करता है, यह सर्व क्रियाएँ मनुष्य अपनी जीवनचर्याके निर्वाहके लिये करते है । संसारमें ऐसा कोईभी जीवात्मा है कि जिसकी प्रवृत्ति अपने जीवननिर्वाहके लिये न हो ? हा यह बात एक और है कि—किसीको असीम संपत्ति होते भी जलन बलन लगी ही रहती है, और कोई स्वल्प लाभसे भी संतुष्ट रहता है । ममण क्रोडों, बल्कि अबजों रुपयोंके होते हुए भी आर्त्तरौद्रसे दिन गुजारता था, और पूनिया श्रावक

प्रतिदिनका ६ दुकडेकी कमाइ में भी सतोष मानता था । परतु प्राणीमात्र अपने अपने आत्माभिमत स्वाथके साधन में प्रवीण होते है । एसा कोई चार खूटमें शायदही होगा जो अपने स्वार्थ को मनसे भी भूलकर परका यको सादर साधन करता हो । जगतमें शुभजीवन उसी पुण्यात्माका है जो परोपकार के लिय जीता हो ।। १ ।। उस मनुष्यका जीवन असार है, असार ही नहीं बल्कि धिक्कारका स्थान है, जिसने अपने अमूल्य समयको व्यर्थ धूलधोकर गुमा दिया हे । उस निकम्मे मनुष्यकी अपेक्षा पशुओं का जीवन अच्छा है कि जिनसे दुनियाके अनस्य काम सुधरते हैं । जीना तो बहुत बडी चीज है बल्कि जिस जीते जागते मनुष्यने परोपकार करना नहीं सीखा उसके जानेकी अपेक्षा मरेहुए पशु भी अच्छे हैं कि जिनके चामसे भी ससारके अनक काम बनते हैं । शास्त्रसिद्ध बात है कि "देवता विषयोंमें मग्न रहते हैं, नरकके नारकियोंको दुक्खोंसे फुरसत नहीं, तिर्यंच तो उपकारको समझते ही नहीं । क्योंकि वह अज्ञानी हैं । सिर्फ उपकारका अधिकार है सो मनुष्योंको ही है । फिर सोचना चाहिये कि अधिकारीही अधिकारसे पराङमुख रहेगा तो नीचे लिखा हुआ वाक्य क्या झूठा है ! अधिकारको पाय कर करे न परउपकार ।

ताहुके अधिकारमें रक्षा न आदि अकार ! ! !

|| समकित के ६७ भेद ||

[चार सद्दहना]

(१) 'परमार्थ संस्तव '—जीवादि नव पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना ।

(२) 'परमार्थज्ञातृसेवन'—गीतार्थ साधु मुनिराजों की सवाभक्तिका करना ।

(३) 'व्यापन्नदर्शनवर्जन'—निन्हव, यथाछन्द आदि वेशविडम्बकोंका परिचय न करना ।

(४) 'कुदर्शनदर्जन'—मिथ्यादृष्टि विपरित श्रद्धावालेका परिचय न करना ।

[तीन लिङ्ग]

(५) शुश्रूषा—शास्त्रसिद्धान्तके सुननेकी तीव्र इच्छा ।

(६) धर्मराग—धर्मक्रिया प्रशस्त अनुष्ठान करनेमे अतरंगप्रीति ।

(७) वेयावच्च—गुणवान साधु साध्वी श्रावक श्राविका की यथोचित सेवा ।

[१० प्रकारका विनय]

(८) अरिहत विनय ।
(९) सिद्धविनय ।
(१०) चैत्यविनय ।
(११) श्रुतविनय ।
(१२) धर्म्मविनय ।
(१३) साधुविनय ।
(१४) आचार्यविनय ।
(१५) उपाध्यायविनय ।
(१६) प्रवचनविनय ।
(१७) दर्शन विनय ।

[तीन शुद्धि]

(१८) मनशुद्धि ।
(१९) वचनशुद्धि ।
(२०) कायाशुद्धि ।

[पाच दोषोंका वर्जन]

(२१) शंकादोषका वर्जन ।
(२२) आकाक्षा दोषका वर्जन ।

(२३) निचिकित्सादोषका वजन ।
(२४) परतीर्थिक (धर्मविरोधी) की प्रससा न करना ।
(२५) परतार्थिक का परिचय न करना ।

[८ प्रभावक]

(२६) समयके अनुसार शास्त्रका पाठी ।
(२७) धमकथा कहनेमें प्रवीण ।
(२८) वाग्विवादमें जयपताका लेनेवाला ।
(२९) निमित्त (ज्योति शास्त्र) का पारगत।
(३०) उत्कृष्ट तपस्याका करनेवाला ।
(३१) रोहिणी प्रमुख विद्या जिसक सिद्ध हों ।
(३२) अजनचूर्णादिक प्रयोगका जाननेवाला ।
(३३) कविता के भदोंका जाननेवाला शामकवि ।

[पाच भूषण]

(३४) क्रियाकौशल्य—धर्मकार्यके करनेमें चतुराइ ।
(३५) तीर्थसेवा–सविग्नपश्नि मनुष्योंका सहवास ।
(३६) भक्ति—तीर्थंकरदेव और साधुवर्गका आदर ।
(३७) दृढ़ता—समकितका करनामें स्थिरचित्त ।
(३८) प्रभावना—जिन शासनकी शाभाका बढाना ।

[पांच लक्षण]

(३९) अपराधी पर भी समभाव रखना ।
(४०) मोक्षकी सद अभिलाषा रखनी ।
(४१) ससारसे उदास रहना ।
(४२) दुखीका ऊप मनम दया लानी ।
(४३) शास्त्रोक्त बातों पर अचल श्रद्धा रखनी ।

[६ प्रकारकी यातना]

अन्य तीर्थ के साधु को उसके माने कचनकामनी शस्त्रादिक धारक देवके साथ ६ प्रकारका व्यवहार मोक्षके लिये नहीं करना ।

(४४) वंदना—हाथ जोडने ।

(४५) नमस्कार—शिर नमाना

(४६) दान—अन्नादिका देना ।

(४७) अनुप्रदान—वारवार देना ।

(४८) आलाप—बुलाना ।

(४९) संलाप—पुनः पुनः बुलाना ।

[६ आगार]

(५०) राजाका आगार ।

(५१) समुदायका आगार ।

(५२) बलवानका आगार ।

(५३) देवताका आगार ।

(५४) गुरुनिग्रह ।

(५५) वृत्तिकान्तार ।

[६ प्रकारकी भावना]

(५६) समकितको चारित्र मूल समझना ।

(५७) समकितको चारित्ररूप प्रासादका द्वार मानना ।

(५८) समकितको चरित्रनिधान रखनेका खजाना समझना चाहिये ।

(५९) समकितको धर्मप्रासादकी नीव समझना चाहिये ।

(६०) समकित आधार है और चारित्र आधेय है ।

(६१) समकित चारित्र रसको रखनेका पात्र है ।

[६ स्थानक]

(६२) जीव—आत्मा—चैतन्य है ।

(६३) और वह नित्य है ।

(६४) जीव कर्मोंका कर्त्ता है ।

(६५) जीव कर्मोंका भोक्ता है ।

(६६) निर्वाण—मोक्ष है ।

(६७) और उसका उपाय भी है ।

(२)

सम्यक्त्व एक प्रकार, दो प्रकार, तीन प्रकार, चार प्रकार, और पांच प्रकार होता है ।

एक प्रकार सम्यक्त्व	वीतराग जिनेश्वर देवके कथन किये तत्त्व पदार्थ पर श्रद्धाका होना एक प्रकारका सम्यक्त्व कहा जाता है ।
दो प्रकार सम्यक्त्व	जैसे मार्ग भूला हुआ कोई आदमी विनाही किसीके मार्ग बताये फिरता फिरता स्वयमेव मार्गपर आ जाता है और कोई मार्ग ज्ञाताके मार्ग के बतानेसे मार्गपर हो जाता है।

इसी प्रकार कितनेक जीवोंको स्वाभाविक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, उस सम्यक्त्वको 'नैसर्गिक' सम्यक्त्व कहते हैं और कितनेक जीवोंको गुरु महाराजके उपदेशसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस सम्यक्त्वको 'औपदेशिक' सम्यक्त्व कहते हैं । एवं सम्यक्त्वके दो प्रकार हैं ।

अथवा 'निश्चय सम्यक्त्व' और 'व्यवहार सम्यक्त्व' की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकारका है । आत्मा का वह परिणाम कि जिसके होनेसे ज्ञानादि मय आत्माकी शुद्ध परिणति होती है उसको 'निश्चयसम्यक्त्व' कहते हैं और कुदेव, कुगुरु, कुमार्गका त्याग कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का स्वीकार करना उसको 'व्यवहारसम्यक्त्व' कहते हैं । अथवा वीतराग

सम्यक्त्व 'निश्चय सम्यक्त्व' और सराग सम्यक्त्व 'व्यवहार सम्यक्त्व।'

अथवा 'द्रव्यसम्यक्त्व' और 'भावसम्यक्त्व' की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकार है। जिनेश्वर देवका कहा वचन ही तत्त्व है ऐसी श्रद्धा तो है परंतु परमार्थ नहीं जानता है, ऐसे प्राणीके सम्यक्त्वको 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहते है। और परमार्थको जाननेवालेके सम्यक्त्वको 'भावसम्यक्त्व' कहते है। अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक होनेसे द्रव्यसम्यक्त्व है और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व आत्मपरिणाम होनेसे 'भावसम्यक्त्व' है।

(३)

तीन प्रकार सम्यक्त्व — १ कारक, २ रोचक, और ३ दीपक, ऐसे तीन प्रकार सम्यक्त्वके होते है। देववदन, गुरु वंदन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि जिनोक्त क्रियाओंके करनेसे जो सम्यक्त्व होवे उसको 'कारक साम्यक्त्व' कहते है। इन्हींमे रुचि होनेसे 'रोचक सम्यक्त्व' कहा जाता है। स्वयं मिथ्या दृष्टि होने पर भी दूसरोंको उपदेश आदि द्वारा दीपकवत् प्रकाश करे अर्थात् दूसरे जीवोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति करावे वह 'दीपक सम्यक्त्व' है।

चार प्रकारका सम्यक्त्व. — पूर्वोक्त क्षायोपशमिकादि तीनों सम्यक्त्वके साथ सास्वादनको मिलानेसे सम्यक्त्व चार प्रकारका होता है। औपशमिक सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वके सन्मुख हुआ जीव जबतक मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त करता तबतक के उसके परिणामविशेषको सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

पांच प्रकारका सम्यक्त्व. — पूर्वोक्त चारोंके साथ वेदक को मिलानेसे पाच प्रकारका सम्यक्त्व कहा जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें वर्त्तमान जीव जब प्रायः सातों प्रकृतियोंको क्षय करके सम्यक्त्व मोहनीय के अंतिम पुद्गलके रसका अनुभव करता

है उस समय के उस के परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदक सम्यक्त्वके बाद उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है। वेदक सम्यक्त्वका क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें अतर्भाव होता है।

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें—१ निसर्ग रुचि, २ उपदेश रुचि, ३ आज्ञारुचि, ४ सूत्ररुचि, ५ बीजरुचि, ६ अभिगमरुचि, ७ विस्ताररुचि, ८ क्रियारुचि, ९ संक्षेपरुचि और १० धर्मरुचि के नामसे सम्यक्त्वके दश भेद भी बताये हैं। प्राप्ति कराव उसको दीपकसम्यक्त्व के जो दूसरोंका सम्यक्त्व हते हैं यह दीपक सम्यक्त्व अभव्य जीव साधुपनेमें होता है। उसवक्त उसमें माना जाता है।

अथवा १ क्षायोपशमिक, २ औपशमिक और ३ क्षायिक की अपेक्षा तीन प्रकारका सम्यक्त्व माना जाता है।

अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय इन सातों कर्म प्रकृतिके क्षयोपशमसे जीवको जो तत्वरुचि उत्पन्न होवे उसको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इन्हीं सातोंके उपशम होनेसे आत्मामें जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इन्हीं सातोंके क्षय होनेसे आत्मामें जो परिणाम विशेष होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

॥ ज्ञानभक्ति ॥

पठ पठति यतस्वाऽशादिना लेखय स्वे,
स्मर वितर च सारो ज्ञानतद्धि तरस्व।
श्रमत्वमपि युते परत्र ज्ञानमयोऽत्र—
त्रजगति हि न सुखाया पानत पन्मत्यर् ॥ १ ॥

(अर्थ) हे भव्यात्माओ! शास्त्रका अभ्यास करो। और पढ़ने पढ़ानेवालोंको अन्नादिसे सहायता दो। न्यायार्जित द्रव्यसे ज्ञानके पुस्तक

लिखाओ, याद करो; साधु; साध्वी; श्रावक,–श्राविका; को ज्ञान दान दो।

यह ही तत्व है; देखो शय्यभव सूरिजीने अपने पुत्रको स्वल्पमात्र भी ज्ञान देकर निस्तारित किया! ससारमें अमृतसे बढ़कर और कोई अधिक वस्तु है? ॥ १ ॥

[वि. वि.]—एकठा किया हुआ धन साथ जानेवाला नहीं है। उसके पैदा करनेमें, रक्षण करनेमें, खर्चनेमें, अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। धनके नष्ट होजानेमें जो आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है उससे जीव दुर्गतिमें चला जाता है।

ऐसी दशामें मनुष्यको चाहिये कि अनेकानेक कष्टोंसे कमाए हुए पैसेको शुभमार्गमें व्यय करे। व्यय करनेके मार्गोंमेंसे सातमार्ग मुख्य हैं— जिनबिम्ब १ जिन–चैत्य २ ज्ञानोद्धार ३ साधु ४ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविकाए जिनचैत्य-जिनबिम्बका वर्णन पहलेकर दिया गया है।
ज्ञानोद्धारके सबधमें जानना चाहिये कि–लिखना लिखाना रक्षण, पालन करना अनेकानेक देशोंमें फैलाना, लाईब्रेरी करनी, शिक्षाका प्रचार करना। साधु साध्वी श्रावक श्राविका–और भाविक मार्गानुसारी जनोंको ज्ञानके तमाम साधन देने, दिलाने, शासन की शोभाके लिये दार्शनिक ग्रंथोंका प्रचार करना। उपदेशक तयार करके अन्यान्य देशोंमें उन्हें भेजकर धर्मका फैलाव करना, यह सब ज्ञानभक्ति कही जाती है। सर्व प्रयत्नसे सर्वज्ञाभषित ज्ञानका सर्वत्र प्रसार करके उसको सर्वोत्तम स्थान दिलाना यह उत्तमोत्तम ज्ञानसेवा–ज्ञान महिमा–ज्ञान–पूजा कही जाती है।

विक्रम की बारहवीं स सोलहवीं सदीतक साधुओं में पठन पाठन का प्रचार अल्प हो गया था, परतु उसवक्त भी आचार्योंने कायदा कायम कर रखा था कि–साधु प्रतिदिन १०० श्लोक लिखे तो ही उसको विगय और शाक देना अन्यथा नहीं।

ज्ञानसागर सूरिजीके मुखसे मांडवगढ के रहनेवाले सुश्रावक संग्राम सिंह सोनी ने बड़ा श्रद्धा भक्तिसे श्री 'भगवती सूत्र' सुना, उस शासनप्रेमी वीरवचनोंके अनुरागान जहाँ जहाँ 'गोयमा !' पद आता था वहाँ वहा एक एक अशर्फि रखकर ३६ हजार अशर्फिया खचकर संपूर्ण भगवती सूत्र का आराधना की। संग्रामसिंह जब जहा एक सोनामाहर रखता था उस वक्त उसकी माता आधी अशर्फि और उनकी पत्नी एक अशर्फि का चतुर्थ खंड रखता थी। इस प्रकार श्री भगवती सूत्र के सुनने में उन्होंने ६३००० सोनामोहरें चढाइ उसमें ३७०००हजार मोहरें और मिलाकर उस संपूर्ण १ लाख द्रव्यसे 'कल्पसूत्र' 'कालिकाचार्य कथा' नामक ग्रंथ सोनहरी अक्षरोंसें लिखाकर भंडारोंमें रखाए। यह घटना वि सं १४५१ में हुइ थी। कुमारपाल राजाके स्वर्गवासके बाद जब अजयपालने उत्पात मचाया, तब कुमारपालके बनवाये कार्योका ध्वंस देखकर आम्रभट्ट ने प्राचीन और नवीन जैन ग्रंथोंका १०० ऊटोंपर लादकर जयसलमेर पहुचाया।

सुना गया है कि वल्लभी नगरी के भंगके समय ३ ००० श्रावक कुटुंब और कितनेक धर्माचार्य शास्त्र और जिन–प्रतिमाओंको लेकर मारवाड तर्फ चल निकले। उन्होंने मारवाड मे आकर जोधपुर के जिलेमें जो 'वाली' गाम कहा जाता है उसको आबाद किया, और अपने प्राणोंसे भी प्रिय मानकर शास्त्र और भगवत्प्रतिमाओंकी रक्षा करते रहे। कुमारपाल राजाने कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरिजी के बनाए हुए

(१) अनेकार्थ संग्रह
(२) अनेकार्थ कोष
(३) अभिधानचिन्तामणि
(४) अभिधानचिन्तामणि परिशिष्ट
(५) अलंकार चूडामणि

(६) उणादि सूत्र वृत्ति
(७) उणादि सूत्र विवरण
(८) छन्दोऽनुशासन और वृत्ति

देशीनाम माला

(९) धातु पाठ और उसकी वृत्ति
(१०) धातुपारायण और उसकी वृत्ति
(११) धातुमाला
(१२) निघंटुशेष
(१३) बलाबल सूत्र वृत्ति
(१४) हेमविभ्रम
(१५) सिद्ध हेम शब्दानुशासन
(बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति)

(१६) शेष सग्रह नाम माला
[१७] शेष सग्रह सारोद्धार
[१८] लिङ्गानुशासन सटीक
[१९] लिङ्गानुशासन विवरण
[२०] त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
[२१] परिशिष्ट पर्व
[२२] हेमन्यायार्थ मजूषा
[२३] सस्कृत द्वाश्रय
[२४] प्राकृत द्वाश्रय
[२५] हेमवादानुशासन
[२६] महावीर द्वात्रिंशिका
[२७] वीर द्वात्रिंशिका

[२८] वीतरागस्तोत्र
[२९] पांडवचरित्र

इत्यादि अनेक ग्रंथोंकी अनेक प्रती लिखाकर राजाने भारतवर्षके अनेकानेक ग्राम नगरोंके ज्ञानभण्डारोंमें रखवाई थी।

इसके अतिरिक्त (११) अंग (१२) उपांग (१०) प्रकीर्णक, (६) छेद, (४) मूल, नंदि, अनुयोगद्वार, इन (४५) ही आगमों की एक एक प्रति सोनहरी अक्षरोंमें, और अनेक प्रतें स्याहीसे लिखाके सुपतिने खंभात, धोलका, करणावती, चन्द्रावती, डुंगरपुर वीजापूर, प्रल्हादनपुर, राधनपुर, पादलिप्तपुर (पालीताणा) जीर्णदुर्ग, (जुनागढ) मांडवगढ, चित्तोडगढ, जयसलमेर, बाहडमेर, दमावती, वडोदरा, आकोला, उज्जैण, मथुरा, प्रमुख उत्तम उपयोगी स्थानोंमें रखवाया थी।

इसके आलावा—कर्णदेव, सिद्धराज, भीमदेव, वीसलदेव, सारंगदेव, वीरधवल सामसिंह आदिराजाओंने भी जैन ज्ञानभंडारोंकी वृद्धिमें पुष्कळ मदद दी है।

और मंत्री उदयन, वाग्भट, अंबड, वस्तुपाल, तेजपाल, कर्म्माशाह, समराशाह, छाडाशाह, मोहनसिंह, सामनसिंह आदि अनेक राजमान्य मंत्रियोंने तो अपनी संपत्तिका प्राय उपयोग ज्ञान और जिनचैत्योंके अन्दर ही किया है। परंतु बड दुःखकी वात है कि देश और समाजके दुर्दैवसे कुमारपाल आदि के पुस्तक सैंकडो वर्ष पहले ही नष्ट हो चुके हैं। इसका कारण प्राय प्रसिद्ध ही है कि जो लोग अपने प्राणोंको हाथकी हथेलीमे लेकर सैंकडों वर्षोंतक इधरसे उधर और उधरसे इधर मार मारे फिरे हैं वह इन पुस्तकालयोंका सर्वथा कैसे रक्षा सकने थे!

कुमारपालके लिखाये पुस्तकोंका नाश तो उसके उत्तराधिकारी अजयपालने ही कर दिया था इस्वीसन ११७४–७६ में गुजरातके अजयदेव नामक एक शैवराजाने राज्यपर आतेही बडी निर्दयतासे जैनोंका

वध कराया, और उनके गुरुओंको भी मरवा डाला ऐसी दशामे वह उन-
के पुस्तकोंको जिन पर उस धर्मका आधार था कैसे छोड सकता
था । विन्सेंट ए. एम. ए. का भारतका प्राचीन इतिहास ॥]

कुमारपालके बाद बहुत ग्रथोंका संग्रह वस्तुपाल तेजपालने कराया था.
सो उसका नाश अलाउद्दीनके अत्याचारोंसे हो गया ।

परमश्रद्धालु जैन लोगोंने जो बचा लिये सो आज भी पाटण, खभात,
लींबडी, जयसलमेर, अमदाबाद आदि शहरों मे हयात है ।

[सन १९१६ जनवरीकी सरस्वतीमें 'पाटणके जैन पुस्तकभंडार'
इस नामके लेखसे, और अन्यान्य प्रबंधोंसे मालुम होता है कि कुमार-
पालने २१ बडे बडे ज्ञानभंडार करवाये थे, कुमारपालके किये कराये
सर्व शुभकार्योंके ज्ञान के लिये मेरा लिखा " हिन्दी कुमारपाल चरित "
देखिये ।]

संघभक्ति.

लोकेभ्यो नृपतिस्ततोपि हि वरश्चक्री ततो वासवः,
सर्वेभ्योऽपि जिनेश्वरः समधिको विश्वत्रयीनायकः ।
सोऽपि ज्ञानमहोदधि. प्रतिदिन संघं नमस्यत्यहो,
वैरस्वामिवदुन्नति नयति तं यः सः प्रशस्यः क्षितौ ॥ १ ॥

अर्थ—साधारण तौर पर देखा जाय तो चारही वर्णकी प्रजासे राजा
श्रेष्ठ गिना जाता है.

राजासे भी सार्वभौम राजा (चक्रवर्ती) बडा है. क्योंकि (३२)
हजार मंडलीक राजा उसकी सत्तामें है । राजा एक देशका स्वामी है,
और चक्रवर्ति नरेश (३२) हजार देशोंका मालिक है । चक्रवर्तिसे
इन्द्रमहाराज बडे है इस बातमे किसी प्रमाणकी आवश्यकता नही यह
बात सर्व संप्रदाय प्रसिद्ध है !

और इन सबसे देवाधिदेव तीर्थंकर देव श्रेष्ठ है । तो भी आश्चर्यकी

षात है कि ज्ञानके सागर जिनेश्वर परमा मा भी श्रीसंघको नमस्कार करते हैं। ऐसे श्रीसंघको आपत्तिग्रस्त जानकर देखकर जो जाव श्रीवज्रस्वामी की तरह सहायता देता है, वह सदाकाल धन्यवादका पात्र है।

श्री स्थुलभद्र स्वामी का श्रायक नामक छोटा भाई था, और यक्षा आदिक ७ बहिन थीं। उन सर्व भाइ बहिनोंने स्थूलीभद्र स्वामी के पीछे दीक्षा ला हुई थी। श्रीयक साधू तप करन मे कायर था। सवच्छरीके दिन बडी बहिन की प्रेरणासे उसने उपवास कर लिया था। दैव योग उसी दिन उसका मृत्यु हो गया। यक्षा को बडा पश्चात्ताप हुआ। उसने निश्चय किया कि मेरे कहने से साधु महाराज ने, शक्तिके न होनेपर भी तपस्या की इसलिये उसके प्राण गये तो ऐसे अनर्थ का पाप माथे आनेपर भी मैं कैसे जी सकती हू? अब मैं भी अनशन करूंगी। श्री संघने उसको हरतरहसे रोका परतु उसने अपना सिद्धान्त अटल रखा। आखीर श्री संघने शासन देवीका आराधन किया; शासन देवीने श्रीसंघके आदेशसे उस साध्वी को भगवान् श्रीसीमंधर स्वामीके समवसरण में पहुंचाया। भगवद्देवने अपने श्री मुखसे फरमाया कि हे यक्षा! तेरा अध्यवसाय साधु को तपस्या कराने का था, उसके मारणे का नहीं। वास्ते तू निर्दोष है। इस बातको सुनकर साध्वीने बडा हर्ष मनाया और श्री संघके किये का-उसगके प्रभावसे शासन देवीने साध्वीको सही सलामत भरत क्षेत्रमें लाकर रख दिया।

महाप्राण ध्यानके करते समय स्थूलि भद्र वगैरह साधुओं की वाचना के लिये जब श्रीसंघने भद्रबाहुसूरिको बुलाया, तब उन्होंने सिर्फ इतनाही जवाब दिया कि, श्रीसंघका फरमान शिरोधार्य है, श्रीसंघकी आज्ञा मुझे मान्य है, मैं जो कुछ कर रहा हूं सो श्रीसंघकी सेवाके लियेही कर रहा हूं, इतने पर भी अगर श्रीसंघ हुक्म करे तो मैं इस कार्य को

छोड कर वहा भी आने को तयार हु । और यदि भगवान श्री सघ साधुओको यहा भेजे तो मै साधुओको वाचना भी दू. और मेरा आरभ किया हुआ कार्य जो कि अब समाप्त होने आया है उसको भी पार पहुंचाऊ। इस मेरी प्रार्थना पर ध्यान देके पूज्य श्रीसंघ जैसा आदेश करेगा मै करनेको हरतरहमे तयार हू। सोचना चाहिये कि चौद पूर्व धर भी श्रीसंघका कितना मान रखते हैं। इसके अलावा विष्णु कुमार मुनिको जब मेरु चूलापर समाचार मिला कि तुमको श्रीसघ बुलाता है तो भर चौमासे में अपने ध्यान कार्य को छोड कर भरत क्षेत्र मे आये।

सघ यह समुदाय का वाचक शब्द है, इस जैन पारिभाषिक शब्द से—साधु (१) साध्वी (२) श्रावक (३) श्राविका (४) रूप चातुर वर्ण श्रीसघका ग्रहण होता है।

साधु साध्वी—'साधु' यह शब्द ही मनोरजक है, अमरसिहने जहां अच्छे शुभ सूचक शब्दों का सग्रह किया है वहा लिखा है "सुन्दर—रुचिर—चारु—सुषमं साधु—शोभनम्"

शब्दशास्त्र—प्रणेताओने साधु शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "साधयति स्वपरकार्याणि इति साधुः।" ससार व्यवहारमे भी इज्जत आबरूके साथ वणज करनेवालेको "साहुकार"कहते है। यह शब्द मागधी भाषाका है और सस्कृतसे बना हुआ है। मूल सस्कृत शब्द है "साधुका-र" अच्छे कामोका करनेवाला. जब कि साधु शब्द ही उत्तम है तो उसका अर्थ क्यों कनिष्ठ हो सकता है? जिनप्रवचनमे साधु को सयमी कहकर बुलाया है। सयमीका अर्थ होता है सयमके धारक—संयमवान्, वह संयम १७ प्रकारका होता है। जैसे कि पाच आश्रवोंका त्याग, पांच इन्द्रियों-का निग्रह, चार कषायोंका त्याग, तीन दंडका विरति, इन (१७) वस्तु ओंको संयम कहते हैं।

किंचित् विवरण–हिंसा (१) झूठ (२) चोरी (३) अब्रह्म(४) परिग्रह (५) यह पांच आश्रव कहे जाते हैं।

स्पर्शन (१) रसना (२) घ्राण (३) चक्षु (४) और श्रोत्र (५) ये पांच इन्द्रियें कहा जाता हैं। इनके विषयोंसे बचना यह भी सयम है।

क्रोध (१) मान (२) माया (३) लोभ (४) इस चोकडीको कषाय चतुष्क कहते हैं। इन चारही कषायोंका त्याग करना यह भी सयम है। मनसे, वचनसे, कायासे, स्वपरका बुरा चिंतन करना उसको दंड कहते हैं। इन तीनही दंडोंका त्याग सा भी सयम है। पांच आश्रवोंका त्याग (५) पांच इन्द्रियोंका निग्रह (१०) चार कषायोंका त्याग (१४) तीन दंडका विरति रूप (१७) जो धर्म साधुका है, वहही साध्वीका है। साधु साध्वी की भक्ति (१) उनका बहुमान (२) उनकी श्लाघा(३) उनके उड्डाहका गोपन (४) यह चार प्रकारका विनय कहा जाता है।

विशुद्ध हृदयसे की हुइ मुनिसेवासे धनसार्थवाहक भवमे और जीवानन्दके भवमें श्री ऋषभदेव स्वामीने और नयसारके भवमे की हुइ सेवासे श्री महावीर स्वामीके जीवन नयसार के भवमें जो तीर्थंकर पदरूप कल्पवृक्षका बीज उपार्जन किया था, उसमें कारण मुनि सेवाही था।

एसे मुनिमहात्माओंको भोजन, वस्त्र, स्थान, काष्ठासन औषध, भेषज पुस्तक, यत्ना, नमस्कार आदि देनेसे दिलानेसे जीव अनंत पुन्य प्राप्त करता है।

बाहु और सुबाहुने भव मे मुनियोंकी सेवा करके भरत और बाहुबलीके भवमें जो उत्तम फल श्री ऋषभदेव स्वामीके पुत्रोंका प्राप्त हुआ है वह प्राय समग्र जैन जातिसे परिचित है।

हर्षका समय है कि जिन शासनमे चारित्र पात्र मुनियोंका आज स्वतंत्रवाद के समयमें भी मान है।

परंतु साथमें इतना अफसोस भी है कि " साहूण सड्ढो राया " इस शास्त्रवाक्य को भुलाकर, श्री ठाणाङ्ग सूत्रमें कहे हुए " अम्मा पियसमाणे " इस मुख्य अधिकार वाक्यको भी याद न ला कर, जो जो व्यक्तियें श्रमणोपासक कहलाती हुई भी एक दूसरे साधु के पक्षमें पडकर अपने और अपने माने उन श्लाघाप्रिय मुनियों के ज्ञान दर्शन चारित्रमें वृद्धि के वदले हानि पहुचाते है उन गुरुभक्तोंको चाहिये कि—" मेरा तेरा " इस भावनाको न रखते हुए सिर्फ गुणग्राहक ही वने रहें। शासनमे एक दूसरे का मतभेद होना स्वाभाविक है, परतु उस वातका निर्णय करने के बदले पक्षापक्षी के जोशमे आकर शासनमूल विनय गुणको भूल जाना, एक दूसरे के साथ असभ्य अश्लील शब्दोसे पेश आना, यह तो किसी भी तरहसे शासनकी रीति नीति नहीं कही जा सकती। जिस जिन शासन को लगभग आधा ससार मान देता था, जिस के सचालक वीतरागदेव हैं, उस सप्रदायकी स्थिति आज अति शोचनीय हो रही है। बिचारे मिथ्या दृष्टि कहलाते वैरागी लोग तो १०—२० एकठे एक जगह बैठकर बोलेंगे—चालेंगे, खायेंगे—पीवेंगे, धर्म चर्चा करेंगे. परंतु आज एक पिता के पुत्र कहलाते हुए जैन क्षमाश्रमण एक मयानमे दो तलवारो के समान एक उपाश्रय मे न रह सकें, एक मडलीमें आहार व्यवहार न कर सकें, एक दूसरे को रास्ते जाते नमस्कार न कर सकें, खेदका समय है हिन्दु के पास मुसलमान आवे या रस्ते जाता मिले तो वह भी उसको घर आनेपर पानी पिलाता है, रास्ते जाता " साहिव सलामत " कह कहकर शिष्टाचार करता है, मगर हमारे जैन साधुओंका उतना शिष्टाचार भी नहीं। इससे वढकर शोक और क्या होगा? ऐसी दशामे मातापिताकी उपमाको धारण करनेवाले श्रावको को फिर भी

याद दिलाना उचित समझा जाता है कि वह शासन प्रेमी शासनालकार आनद कामदेव के पदपर बैठे हुए श्रेणिक, सम्प्रति, कुमारपाल के स्थाना पन्न सदा शासन रक्षक महानुभाव श्रावकों का उचित है, उनका फरज है कि बढते हुए कुसपका—फैलते हुए आपा पथको रोकनका प्रयत्न करे।

सुना जाता है कि "श्रीधमघोष सूरि" जीके समयमे १८ श्रावकों को अधिकार था, कि वीर शासनके साधु साध्वी श्रावक श्राविका जहा होवे वहा सब जगह उन (१८) श्रावकोंकी सत्ता चले, जिस किसी का भी कोई धमवाद होय उसकी फियाद उनके पास आवे, उनका इन्साफ वह करें। उनके दिये इन्साफ को—उनके किये फैसले का कोई अन्यथा न कर सके।

हे शासनपति! हे हितवत्सल! हे करुणानिधि! वीर प्रभो! जो शान्तिका साम्राज्य आपने फैलाया था वह आज नामशेष–कथाशेषही रह गया है उसे फिरसे उज्जीवित करो। आप श्रीजीके भक्तोंके हृदयमदिरोंमें से जो धर्मसुहृद् रूठा चला जा रहा है उसको फिरसे पीछे लौटाकर आश्रितों को उपकृत करो।

दीनोद्धार धुरंधर! आपके लगाए नन्दनवनको उजडते देखके आपके ठहराये स्वरूप शासन देव क्यों उपेक्षा कर रहे हैं?।

हमे बडे हर्षके साथ कहना पडता है कि प्रभुका मार्ग तो विनय विवेकसे सम्पन्न है उसमे तो गुणी ये गुणकी पहचान है, गुणवानका कदर है। नीचे के एक दृष्टान्त से आप इस विषयका खूब तौरपर समझ सकेंगे।

श्रावस्ती नगरी के नजदीकके किसी स्थानका रहनेवाला 'स्कन्दक' नामा तापस मनकी शकाओंका समाधान करने के लिये श्रमण भगवान् महावीर के पास आया, प्रभु श्री महावीरदेव अपने शिष्य गौतम-

को कहते है " गौतम आज तुझे तेरा पूर्व परिचित संबधी मिलेगा; गौतमने पूछा प्रभु ! वह कौन ? भगवान् कहते है 'स्कदक तापस प्रश्नार्थ पूछनेको आ रहा है, अभी थोडी देरमे यहां आ पहुंचेगा ?"

गौतम स्वामी प्रभुसे पूछकर उसका सत्कार करने के लिये सामने जाते है । स्कदक को बडे प्रेमसे मिलते है, आदरपूर्वक उसको प्रभुके पास लाते है, स्कंदक प्रभुके पास आकर अपनी शकाओंको पूछता है । वहा साफ लिखा है कि " स्कदक को पास आए जानकर गौतम स्वामी फौरन अपने आसन को छोडकर खडे हुए, स्कदक के सामने गए, और बडे आनदसे उसका स्वागत करते है "

[भगवती सूत्र शतक दूसरा, उद्देशा पहला.]

चार ज्ञानके धारक १४००० साधुओं के स्वामी गौतम गणधर एक तापस को आता देख उसके सामने जावे, उसका आदर सत्कार करें, स्नेहिले शब्दोमे उसको स्वागत पूछे, यह शब्द क्या कहते है ? । इस प्रकरणसें यह एक उत्तम शिक्षा मिलती है कि " मनुष्यमात्रसे भ्रातृभाव-रखो उनको ज्यों बने त्यो धर्मके अभिमुख करो परतु पराङमुख न करे', " तूतू " करने से पशुजाति कुत्ता भी पूछडी हिलाता हिलाता आके पाओमें गिरता है परंतु " दुरे दुरे " करने से दूर चला जाता है, तो मनुष्य अपमानको कैसे सहन कर सकता है ? इस लिये जीव मात्रसे उस में भी विशेष कर समानधर्मोसे सहानुभूति ही रखना चाहिये ।

श्रावक—श्राविका

जैन सप्रदायके अनेक शास्त्रों मे " श्रावक " शब्दकी यह ही व्याख्या-की है कि—जो जीवादि नव तत्वोंका, जाननेवाला हो न्यायोपार्जित धनको सात क्षेत्रोंमे खर्चनेवाला हो, कर्म्मदलिकों को आत्मासे जुदा करनेवाला हो, उसको 'श्रावक' कहते है । इसी ग्रथके किसी एक प्रकरणमें

श्रावक के पांच नियमोंका वर्णन हो चुका है; उसके उत्तरमूल ३ अनुव्रत, और ४ शिक्षाव्रत मिलानेसे १२ व्रत होते हैं, जो श्रावक धर्मका सर्वस्व है। इन सारा व्रतोंका सविस्तर स्वरूप उपदेश प्रासाद, जैनतत्त्वादर्श, गुणस्थानक्रमारोह हिंदी, श्रावक-कल्पद्रुम, आदि ग्रंथोंसे जाना जा सकता है। अब यहां एक बात और भी ध्यानमें रखने जैसी है कि—सुपात्र पोषणका संसारमें बड़ा प्रभाव वर्णित है। साधु साध्वीको उत्तम पात्र गिना है तो श्रावकको भी मध्यम पात्र तो गिना ही है।

॥ श्रावकके २१ गुण ॥

१ गंभीर होवे, परंतु क्षुद्र न होवे।
२ सब अंग संपूर्ण होवे।
३ शांत प्रकृतिवाला होवे।
४ लोकप्रिय होवे।
५ सरलपरिणामी होवे। क्रूर न होवे।
६ इसलोक पर लोकके भयसे डरनेवाला होवे।
७ अशठ होवे, परको ठगनेवाला न होवे।
८ दाक्षिण्यवाला होवे, परकी प्रार्थनाका भंग न करे।
९ लज्जावंत होवे, निर्लज्ज न होवे।
१० दयालु होवे दीन दुःखीपर दया करे।
११ मध्यस्थ भाववाला होवे, पक्षपाती न होवे।
१२ गुणी [illegible] राग करनेवाला होवे।
१३ सत्यकथा [illegible] करनेवाला होवे।
१४ सु [illegible]—धर्मी परिवार [illegible]
१५ [illegible]
१६ [illegible]

१७ वृद्धपुरुषोंको सेवा करनेवाला होवे।

१८ गुणी जीवका विनय करे, अविनीत न होवे।

१९ किये हुए उपकारको याद रखे, भूला न देवें।

२० निर्लोभीपणे, इच्छारहित, परोपकार करे।

२१ लब्धलक्ष्य व्यवहार कुशल होवे।

एक बात और यहां विचारने लायक है कि--साधु महापुरुष तो अपने मन वचन कायासे संसारका उपकार करते हैं, परंतु संसारी जीव आरंभ परिग्रह में आसक्त है; इसलिये उससे वह कार्य बनना अशक्य है जो साधु कर सकता है। बाकी संसारी जीवसे भी अपने समानधर्मीका उपकार तो बन सकता है। संसारमें प्रसिद्ध है कि--

सरवर तरवर सतजन, चौथा वरसे मेह।
परमारथके कारणे, चारो धरे सनेह ॥ १ ॥

सरोवर जलाशय, जगत का कितना उपकार करते हैं, वह संसार जानता ही है। तरवर--वृक्ष, यह भी प्रत्यक्ष रूपसे जगत के उपकारी हैं। नर्मदा नदी के किनारे पर--"कबीरवड" नामक एक वड है जो वडा विशाल, सघन छायाशाली है। सुना गया है कि वहा वर्ष वर्ष के बाद एकमेला होता हे उसमे सिर्फ उस वडके आश्रय (६०००) छ हजार मनुष्य वडे आरामसे ठहर सकते है। बुद्धिवानोंको विचारनेका विषय है कि--जब एक वृक्ष जिसको संसारमे जड स्थिर स्थावर एकेन्द्री जैसे शब्दोंसे बुलाया जाता है वह छ--छ हजार मनुष्योको साता पहुचा सकता है तो वह मनुष्य कैसा जो अपने आश्रित एक दो मनुष्योंको भी सुख नदे!।

सतजन--साधुपुरुष--और मेघ--वरसाद यह विश्वके आधारही है इस बात मे हेतु दृष्टान्त देना सूर्यको दीपक दिखाना है। इससे हमारा कथन